वार्षिक रु. ६०.०० मूल्य रु. ८.००

रामकृष्ण मिशन, विवेकानन्द आश्रम, रायपुर (छ. ग.)

॥ आत्मनो मोक्षार्थं जगद्धिताय च ॥

विवेक-ज्योति

श्रीरामकृष्ण-विवेकानन्द भावधारा से अनुप्राणित

हिन्दी मासिक

जून २००९

प्रबन्ध सम्पादक

स्वामी सत्यरूपानन्द

सम्पादक

स्वामी विदेहात्मानन्द

वर्ष ४७
अंक ६

वार्षिक ६०/– **एक प्रति ८/–**

५ वर्षों के लिये – रु. २७५/–

आजीवन (२५ वर्षों के लिए) – रु. १,२००/–

(सदस्यता -शुल्क की राशि स्पीडपोस्ट मनिआर्डर से भेजें अथवा बैंक-ड्राफ्ट – 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवाएँ

विदेशों में – वार्षिक २० डॉलर; आजीवन २५० डॉलर (हवाई डाक से) १२५ डॉलर (समुद्री डाक से)

संस्थाओं के लिये –

वार्षिक ९०/– ; ५ वर्षों के लिये – रु. ४००/–

रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर – ४९२००१ (छ.ग.)

विवेक-ज्योति दूरभाष : ०९८२७१ ९७५३५

आश्रम : ०७७१ – २२२५२६९, २२२४११९

(समय : ८.३० से ११.३० और ३ से ६ बजे तक)

अनुक्रमणिका

मुद्रक : संयोग ऑफसेट प्रा. लि., बजरंगनगर, रायपुर (फोन : २५४६६०३)

लेखकों से निवेदन

पत्रिका के लिये रचना भेजते समय निम्न बातों पर ध्यान दें –

(१) धर्म, दर्शन, शिक्षा, संस्कृति तथा किसी भी जीवनोपयोगी विषयक रचना को 'विवेक-ज्योति' में स्थान दिया जाता है ।

(२) रचना बहुत लम्बी न हो । पत्रिका के दो या अधिक-से-अधिक चार पृष्ठों में आ जाय । पाण्डुलिपि फूलस्केप रूल्ड कागज पर दोनों ओर यथेष्ट हाशिया छोड़कर सुन्दर हस्तलेख में लिखी या टाइप की हो । भेजने के पूर्व एक बार स्वयं अवश्य पढ़ लें ।

(३) लेख में आये उद्धरणों के सन्दर्भ का पूरा विवरण दें ।

(४) आपकी रचना डाक में खो भी सकती है, अत: उसकी एक प्रतिलिपि अपने पास अवश्य रखें । अस्वीकृति की अवस्था में वापसी के लिये अपना पता लिखा हुआ एक लिफाफा भी भेजें ।

(५) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ कवितायें इतनी संख्या में आती हैं कि उनका प्राप्ति-संवाद देना सम्भव नहीं होता । स्वीकृत होने पर भी उसके प्रकाशन में ६-८ महीने तक लग सकते हैं ।

(६) अनुवादित रचनाओं के मूल स्रोत का पूरा विवरण दिया जाय तथा उसकी एक प्रतिलिपि भी संलग्न की जाय ।

(७) 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशित लेखों में व्यक्त मतों की पूरी जिम्मेदारी लेखक की होगी और स्वीकृत रचना में सम्पादक को यथोचित संशोधन करने का पूरा अधिकार होगा ।

(८) 'विवेक-ज्योति' के लिये भेजी जा रही रचना यदि इसके पूर्व कहीं अन्यत्र प्रकाशित हो चुकी हो या प्रकाशनार्थ भेजी जा रही हो, तो उसका भी उल्लेख अवश्य करें । वैसे इसमें मौलिक तथा अप्रकाशित रचनाओं को ही प्राथमिकता दी जाती है ।

सदस्यता के नियम

(१) 'विवेक-ज्योति' पत्रिका के सदस्य किसी भी माह से बनाये जाते हैं। सदस्यता-शुल्क की राशि यथासम्भव स्पीड-पोस्ट मनिआर्डर से भेजें या बैंक-ड्राफ्ट - 'रामकृष्ण मिशन' (रायपुर, छत्तीसगढ़) के नाम बनवायें । यह राशि भेजते समय एक अलग पत्र में अपना पिनकोड सहित पूरा पता और टेलीफोन नम्बर आदि की पूरी जानकारी भी स्पष्ट रूप से लिख भेजें ।

(२) पत्रिका को निरन्तर चालू रखने हेतु अपनी सदस्यता की अवधि पूरी होने के पूर्व ही नवीनीकरण करा लें ।

(३) पत्रिका न मिलने की शिकायत माह पूरा होने पर ही करें । उसके बाद अंक उपलब्ध रहने पर ही पुन: प्रेषित किया जायेगा ।

(४) अंक सुरक्षित पाने हेतु प्रति अंक ६/- रूपये अतिरिक्त खर्च कर इसे वी.पी. पोस्ट से मँगाया जा सकता है । यह राशि प्रति माह अंक लेते समय पोस्टमैन को देनी होगी, अत: इसे हमें मत भेजें ।

(५) सदस्यता, एजेंसी, विज्ञापन या अन्य विषयों की जानकारी के लिये 'व्यवस्थापक, विवेक-ज्योति कार्यालय' को लिखें ।

वर्ष ४७ जून २००९ अंक ६

विवेक-चूडामणि

– श्री शंकराचार्य

आपात-वैराग्यवतो मुमुक्षून्
भवाब्धिपारं प्रतियातुमुद्यतान् ।
आशाग्रहो मज्जयतेऽन्तराले
निगृह्य कण्ठे विनिवर्त्य वेगात् ।।७९।।

अन्वय – भवाब्धिपारं प्रतियातुं उद्यतान् आपात-वैराग्यवतः मुमुक्षून् आशाग्रहः कण्ठे निगृह्य वेगात् विनिवर्त्य अन्तराले मज्जयते ।

अर्थ – जो मुमुक्षु मन्द वैराग्यवाले होकर भी भवसागर से पार जाने की चेष्टा करते हैं, आशा-रूपी ग्राह उनका गला पकड़कर तीव्र वेग से हटाकर उन्हें बीच में ही डुबा देता है।

विषयाख्यग्रहो येन सुविरक्त्यसिना हतः ।
स गच्छति भवाम्भोधेः पारं प्रत्यूहवर्जितः।।८०।।

अन्वय – सु-विरक्ति-असिना येन विषय-आख्य-ग्रहः हतः, सः प्रति-ऊह-वर्जितः भव-अम्भोधेः पारं गच्छति ।

अर्थ – जिस साधक ने तीव्र वैराग्य रूपी तलवार से विषय-कामना रूपी ग्राह का वध कर डाला है, वह प्रत्येक बाधा से रहित होकर भव-सागर के पार चला जाता है।

विषम-विषय-मार्गैर्गच्छतोऽनच्छबुद्धेः
प्रतिपदमभियातो मृत्युरप्येष विद्धि ।
हितसुजनगुरूक्त्या गच्छतः स्वस्य युक्त्या
प्रभवति फलसिद्धिः सत्यमित्येव विद्धि।। ८१।।

अन्वय – विषमविषयमार्गैः गच्छतः अनच्छबुद्धेः एषः मृत्युः अपि प्रतिपदं अभियातः विद्धि । (तथा) हित-सुजन-गुरु-उक्त्या स्वस्य युक्त्या गच्छतः फलसिद्धिः प्रभवति इति सत्यं एव विद्धि ।

अर्थ – (रूप, रसादि) भोग्य विषयों के कठिन मार्ग पर चल रहे, अशुद्ध बुद्धिवाले साधक के पग-पग पर यह मृत्यु भी उसके साथ चलती जानो। फिर यह भी सत्य जानो कि हिताकांक्षी सच्चे गुरु के उपदेश तथा अपनी बुद्धि के सहारे चलनेवाला (आत्मबोध-रूपी) फल-सिद्धि प्राप्त करता है।

मोक्षस्य कांक्षा यदि वै तवास्ति
त्यजातिदूराद्विषयान्विषं यथा ।
पीयूषवत्तोषदयाक्षमार्जव-
प्रशान्तिदान्तीर्भज नित्यमादरात् ।।८२।।

अन्वय – यदि वै तव मोक्षस्य कांक्षा अस्ति, विषयान् यथा विषं अतिदूरात् त्यज (तथा) तोष-दया-क्षमा-आर्जव-प्रशान्ति-दान्तीः पीयूषवत् आदरात् नित्यं भज ।

अर्थ – यदि तुम्हें मोक्ष-प्राप्ति की इच्छा है, तो विषयों को विष के समान बहुत दूर से ही त्याग दो; और सन्तोष, दया, क्षमा, सरलता, शम तथा दम – इन गुणों का प्रति दिन अमृत के समान आदरपूर्वक सेवन करो।

अनुक्षणं यत्परिहृत्य कृत्यम-
नाद्यविद्याकृतबन्धमोक्षणम् ।
देहः परार्थोऽयममुष्य पोषणे
यः सज्जते स स्वमनेन हन्ति ।।८३।।

अन्वय – अनादि-अविद्या-कृत-बन्ध-मोक्षणम् यत् अनुक्षणं कृत्यम्, (तत्) परिहृत्य, अयं परार्थः देहः अमुष्य पोषणे यः सज्जते, सः अनेन स्वं हन्ति ।

अर्थ – अनादि अविद्या द्वारा किये गये बन्धन से मुक्ति के लिये प्रतिक्षण प्रयास रूपी अपने सच्चे कर्तव्य को छोड़कर, जो इस दूसरों के भोग्यरूपी अपनी देह के पोषण में आसक्त रहता है, वह इस कृत्य के द्वारा मानो आत्महत्या करता है।

स्वामीजी का बचपन

– १ –

(स्वामीजी बचपन में बहुत नटखट थे, परेशान होकर
उनकी माता मन के द्वन्द्व में पड़ी सोचती हैं -)

(भैरवी या दरबारी कान्हरा–कहरवा)

दण्ड दूँ कैसे इस चंचल को !
भोला-भाला सा मुखमण्डल, ज्यों उत्फुल्ल कमल हो।।

भस्म-विभूषित संन्यासी का, इसने वेश बनाया,
अद्भुत भाव चारु नयनों का, जाता नहीं भुलाया।
कैसे करूँ नियंत्रित इसकी, शैतानी के बल को।।

भक्ति साधुओं पर है इसकी, उनका स्वागत करता।
करने में सन्तुष्ट उन्हीं को, दिखलाता तत्परता।
दे देता निज वस्त्र खोलकर, क्या पहनाऊँ इसको।।

ताली दे नन्हें हाथों से, 'शिव-शिव' मुख से कहता,
ठुमक-ठुमक कर नृत्य मनोहर, करता ही यह रहता।
वात्सल्य उमड़ा करता है, चैन न पाती पल को।।

– २–

गुरु द्वारा शक्ति-संचार

(अपनी महासमाधि के कुछ दिनों पूर्व श्रीरामकृष्ण युवा साधक नरेन्द्र (स्वामीजी)
को पास बुलाकर उनमें अपनी आध्यात्मिक शक्ति का संचार करते हैं -)

(भैरवी–कहरवा)

आज फकीर हुआ देकर मैं, तुझको निज अध्यात्म-खजाना,
वितरण का दायित्व तुम्हीं पर, वत्स नरेन, न इसे भुलाना।।

क्षीण हुई थी गुरु की काया, शिष्य-मंडली करती सेवा,
प्रेम डोर में बँध नरेन्द्र भी, करते भजन-साधना नाना।।

भृकुटि-मध्य में दृष्टि जमाकर, दिव्य तत्त्व अनुभूति जगाकर,
आत्मशक्ति का किया संक्रमण, तब नरेन्द्र ने सब कुछ जाना।।

उनको निज सर्वस्व सौंपकर, शान्त हुआ ठाकुर का अन्तर,
प्रेम-अश्रु बह रहे नेत्र से, अब तो रहा न कुछ अनजाना।।

– विदेह

भक्तियोग – प्रेम का मार्ग

स्वामी विवेकानन्द

स्वामीजी की भारत सम्बन्धी उक्तियों का एक उत्कृष्ट संकलन कोलकाता के रामकृष्ण मिशन इंस्टीट्यूट ऑफ कल्चर ने My India, The India Eternal शीर्षक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया है। प्रस्तुत है उन्हीं उक्तियों का हिन्दी रूपान्तरण। – सं.)

भक्ति सभी धर्मों में है – कहीं ईश्वर के प्रति भक्ति है, तो कहीं महापुरुषों के प्रति। सर्वत्र इस भक्ति-रूप उपासना का सर्वोपरि प्रभाव दीख पड़ता है। ज्ञान की अपेक्षा भक्ति-लाभ सहज है। ज्ञान-लाभ के लिये कठिन अभ्यास और अनुकूल परिस्थितियों की जरूरत होती है। शरीर सर्वथा स्वस्थ तथा नीरोग न हो और मन सर्वथा विषयों से अनासक्त न हो, तो योग का अभ्यास नहीं किया जा सकता, परन्तु भक्ति की साधना सभी अवस्थाओं के लोग बड़ी सरलता के साथ कर सकते हैं।

पुत्र-प्राप्ति, धनी होने या स्वर्ग-लाभ के लिए की जानेवाली ईश्वर की उपासना को हम भक्ति नहीं कह सकते, यहाँ तक कि नरक की पीड़ा से छूटने के लिये भी की गयी उपासना को हम भक्ति नहीं कह सकते। भय या लोभ से कभी भक्ति की उत्पत्ति नहीं हो सकती। वे ही सच्चे भक्त हैं, जो कह सकते हैं – "हे जगदीश्वर ! मैं धन, जन, परम सुन्दरी स्त्री या विद्वत्ता – कुछ भी नहीं चाहता। हे प्रभो ! मैं हर जन्म में केवल आपकी अहेतुकी भक्ति चाहता हूँ।"[३०]

भारतीय भक्ति पाश्चात्य देशों की भक्ति के समान नहीं है। भक्ति के बारे में हमारी मुख्य धारणा यह है कि उसमें भय का नामो-निशान तक नहीं रहता – रहता है केवल भगवान के प्रति प्रेम।... भक्ति की बातें हमारी प्राचीनतम उपनिषदों तक में विद्यमान हैं, जो ईसाई बाइबिल से भी काफी अधिक प्राचीन हैं। वैदिक संहिताओं में भी भक्ति का बीज देखने में आता है। फिर 'भक्ति' शब्द भी कोई पाश्चात्य शब्द नहीं है। वेद-मन्त्र में 'श्रद्धा' शब्द का जो उल्लेख है, उसी से क्रमश: भक्तिवाद का उद्भव हुआ था।[३१]

निम्नतम रूप में प्रेम की अभिव्यक्ति को 'शान्त' कहते हैं। जब ईश्वर की उपासना करते समय व्यक्ति के हृदय में प्रेमाग्नि प्रज्वलित नहीं रहती, जब वह प्रेम से उन्मत्त होकर अपनी सुध-बुध नहीं खो बैठता, जब उसका प्रेम बाह्य क्रिया-कलापों और अनुष्ठानों से थोड़ा-ही उन्नत एक साधारण-सा प्रेम रहता है, जब उसकी उपासना में प्रबल प्रेम का उन्माद नहीं रहता, तब वह उपासना 'शान्त-भक्ति' कहलाती है। संसार में कुछ ऐसे लोग होते हैं, जो साधन-पथ पर धीरे-धीरे अग्रसर होना पसन्द करते हैं और कुछ आँधी के समान जोर से चलना। शान्त भक्त धीर, शान्त तथा नम्र होता है।

इससे कुछ उँची अवस्था है – 'दास्य'। इस अवस्था में व्यक्ति अपने को ईश्वर का दास समझता है। विश्वासी सेवक की अपने स्वामी के प्रति अनन्य भक्ति ही उसका आदर्श है।

इसके बाद है – 'सख्य' प्रेम। 'सख्य-प्रेम' का साधक भगवान से कहता है, 'तुम मेरे प्रिय सखा हो।' जैसे एक व्यक्ति अपने मित्र के सम्मुख अपना हृदय खोल देता है और यह जानता है कि उसका मित्र उसके अवगुणों पर कभी ध्यान न देगा, वरन् उसकी सदा सहायता ही करेगा – उन दोनों में जिस प्रकार समानता का एक भाव रहता है, वैसे ही 'सख्य-प्रेम' के साधक और उसके सखा भगवान के बीच भी मानो एक प्रकार की समानता का भाव रहता है। इस प्रकार भगवान हमारा अन्तरंग मित्र हो जाता है, जिसको हम अपने जीवन की सारी बातें दिल खोलकर बता सकते हैं, ...

इसके बाद है 'वात्सल्य-प्रेम'। उसमें भगवान से अपने पिता के रूप में नहीं, बल्कि अपनी सन्तान के रूप में प्रेम करना पड़ता है। सम्भव है, यह कुछ अजीब-सा लगे, पर उसका उद्देश्य है – अपनी ईश्वर-विषयक धारणा से ऐश्वर्य के सारे भावों को दूर कर देना। ऐश्वर्य की भावना के साथ ही भय आता है। प्रेम में भय का कोई स्थान नहीं।... प्रेमी कहता है कि भगवान को महामहिम, ऐश्वर्यशाली, जगन्नाथ या देवाधिदेव के रूप में सोचने की मेरी इच्छा ही नहीं होती। भगवान से सम्बन्धित यह जो भयोत्पादक ऐश्वर्य की भावना है, उसी को दूर करने हेतु वह भगवान को अपनी सन्तान के रूप में प्यार करता है। माता-पिता अपने बच्चे से भयभीत नहीं होते, उसके प्रति उनकी श्रद्धा नहीं होती। वे उस बच्चे से कुछ याचना नहीं करते। बच्चा तो सदा पानेवाला ही होता है और उसके लिये वे लोग सौ बार भी मरने को तैयार रहते हैं। अपने एक बच्चे के लिये लोग हजार जीवन भी न्योछावर करने को प्रस्तुत रहते हैं। बस, इसी प्रकार भगवान से वात्सल्य-भाव से प्रेम किया जाता है। ...

प्रेम का यह दिव्य रूप एक और मानवीय भाव में प्रकाशित होता है। उसे 'मधुर' कहते हैं और वही सब प्रकार के प्रेमों में श्रेष्ठ है। संसार में प्रेम की जो सर्वोच्च अभिव्यक्ति

है, वही इसकी नींव है और मानवीय प्रेमों में यही सबसे प्रबल है। पुरुष और स्त्री के बीच जो प्रेम रहता है, उसके समान और कौन-सा प्रेम है, जो मनुष्य की सारी प्रकृति को बिल्कुल उलट-पलट दे, जो उसके हर परमाणु में संचरित होकर उसको पागल बना दे, उसके अपने स्वभाव को ही भुला दे; और उसे देवता या दैत्य बना दे? दैवी प्रेम के इस मधुर-भाव में भगवान का चिन्तन पति के रूप में किया जाता है – ऐसा विचार कि हम सभी स्त्रियाँ हैं, इस संसार में और कोई पुरुष नहीं, एक ही पुरुष है – हमारा प्रेमास्पद भगवान। पुरुष स्त्री के प्रति और स्त्री पुरुष के प्रति जो प्रेम प्रदर्शित करती है, वही प्रेम भगवान को देना होगा। ...

परन्तु प्रेमी-भक्त यहाँ भी नहीं रुकता, उसके लिये पति और पत्नी की प्रेमोन्मत्तता भी यथेष्ट नहीं। ऐसे भक्त अवैध प्रेम का भाव ग्रहण करते हैं, क्योंकि उसमें बड़ी प्रबलता होती है। परन्तु देखो, उसकी अवैधता उनका लक्ष्य नहीं है। इस प्रेम का स्वभाव ही ऐसा है कि उसे जितनी बाधा मिलती है, वह उतना ही उग्र रूप धारण करता है। पति-पत्नी का प्रेम अबाध रहता है – उसमें किसी प्रकार की विघ्न-बाधा नहीं आती; इसीलिये भक्त कल्पना करता है, मानो कोई स्त्री पर-पुरुष में आसक्त है और माता, पिता या पति उसके इस प्रेम का विरोध करते हैं। इस प्रेम के मार्ग में जितनी ही बाधाएँ आती हैं, वह उतना ही प्रबल रूप धारण करता जाता है। श्रीकृष्ण वृन्दावन के कुंजों में किस प्रकार लीला करते थे, किस प्रकार सब लोग उन्मत्त होकर उनसे प्रेम करते थे, किस प्रकार उनकी बाँसुरी की मधुर तान सुनते ही चिरधन्य गोपियाँ सब कुछ भूलकर, संसार तथा इसके सारे बन्धनों को भूलकर, दुनिया के सारे कर्तव्य तथा सुख-दु:ख को बिसराकर, उन्मत्त-सी उनसे मिलने के लिये दौड़ पड़ती थीं – यह सब मानवी भाषा द्वारा व्यक्त नहीं किया जा सकता। हे मानव, तुम दैवी प्रेम की बातें तो करते हो, पर साथ ही इस संसार की असार चीजों में भी मन लगाये रहते हो – क्या तुम सच्चे हो? 'जहाँ राम हैं, वहाँ काम नहीं, और जहाँ काम है वहाँ राम नहीं।' ये दोनों कभी एक साथ नहीं रह सकते – प्रकाश और अन्धकार क्या कभी एक साथ रहे हैं?[३२]

सांसारिक प्रेमी जिस भाँति अपने प्रियतम से प्रेम करते हैं, उसी प्रकार हमें ईश्वर से भी प्रेम करना होगा। कृष्ण स्वयं ईश्वर थे, राधा उनके प्रेम में उन्मत्त थीं। ... परन्तु इस अपूर्व प्रेम के तत्त्व को कितने लोग समझते हैं? बहुत-से ऐसे लोग हैं, जिनका हृदय पाप से परिपूर्ण है, वे नहीं जानते कि पवित्रता या नैतिकता किसे कहते हैं। वे क्या इन तत्त्वों को समझ सकते हैं? वे कैसे भी इन तत्त्वों को समझ ही नहीं सकते। जब मन से सारे सांसारिक वासनापूर्ण विचार दूर हो जाते हैं और जब मन की निर्मल नैतिक तथा आध्यात्मिक भाव-जगत् में अवस्थिति हो जाती है, उस समय व्यक्ति अशिक्षित होने पर भी शास्त्र की अति जटिल समस्याओं के रहस्य को समझने में समर्थ होता है। परन्तु इस प्रकार के मनुष्य संसार में कितने हैं या हो सकते हैं?[३३]

भक्ति तो तुम्हारे भीतर ही है – केवल उसके ऊपर काम-कांचन का एक आवरण-सा पड़ा हुआ है। उसको हटाते ही भीतर की वह भक्ति स्वयमेव प्रकट हो जायेगी।[३४]

प्रेम बड़ी ही उच्च वस्तु है, पर निरर्थक भावुकता में परिणत होकर उसके नष्ट हो जाने का भय रहता है।[३५]

भक्तियोग का एक बड़ा लाभ यह है कि वह हमारे महान् दिव्य लक्ष्य की प्राप्ति का सबसे सरल और स्वाभाविक मार्ग है। परन्तु साथ ही उससे एक विशेष आशंका यह है कि अपनी निम्न अवस्था में वह मनुष्य को बहुधा भयानक मतान्ध और कट्टर बना देता है।[३६]

चैतन्य महाप्रभु महात्यागी थे, उनका कामिनी और इन्द्रिय -भोग से कोई नाता न था। पर बाद में, उनके अनुयाइयों ने स्त्रियों को भी अपने सम्प्रदाय में सम्मिलित कर लिया, उनके नाम पर अन्धाधुन्ध उनसे मेलजोल रखा और इस प्रकार उनके महान् आदर्शों को मिट्टी में मिला दिया। प्रेम का जो आदर्श चैतन्यदेव ने अपने जीवन में प्रकट किया था, उसमें तो अहं-भाव तथा वासना का लेश तक नहीं था; वह काम-विहीन प्रेम सर्वसाधारण के लिये कैसे सुलभ हो सकता था? परन्तु उनके परवर्ती वैष्णव गुरुओं ने, चैतन्य महाप्रभु के जीवन के त्याग तथा निष्कामता के आदर्शों पर ध्यान न देकर, जन-साधारण में उनके प्रेम के आदर्श का ही प्रचार किया। परिणाम यह हुआ कि जनता उस स्वर्गीय प्रेम के तत्त्व को समझ नहीं सकी और वह प्रेम स्त्री-पुरुष के निकृष्टतम प्रकार के प्रेम में परिणत हो गया। ...

जब तक हृदय में जरा भी वासना है, तब तक यह प्रेम सम्भव नहीं। केवल महात्यागी, नि:स्पृह और संन्यस्त व्यक्ति, जो मानवों में अतिमानव हैं, केवल उन्हें ही इस स्वर्गीय प्रेम का अधिकार है। यदि वह प्रेम का उच्चतम आदर्श सर्वसाधारण में प्रचलित कर दिया जाय, तो वह अज्ञात भाव से मानव के हृदय में प्रबल सांसारिक प्रेम को ही उद्दीप्त करेगा – क्योंकि साधारण व्यक्ति ईश्वर का प्रिया-भाव से ध्यान करते-करते अधिकांश समय अपनी प्रिया के ध्यान में ही खोया रहेगा और इसका परिणाम जो होगा – वह स्पष्ट है।[३७क] ...

❖ (क्रमशः) ❖

सन्दर्भ-सूची –

३०. विवेकानन्द साहित्य, सं. १९६३, खण्ड ५, पृ. २४८, २५४; **३१**. वही, खण्ड १०, पृ. ३८५; **३२.** वही, खण्ड ४, पृ. ६८-७३; **३३.** वही, खण्ड ५, पृ. २५५; **३४.** वही, खण्ड १०, पृ. ३७१; **३५.** वही, खण्ड २, पृ. ३२५; **३६.** वही, खण्ड ४, पृ. ५; **३७क.** वही, खण्ड ८, पृ. २७९-८१
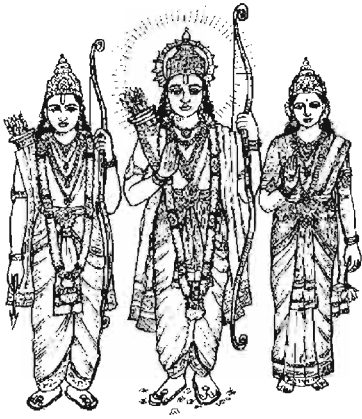
नाम की महिमा (१/२)

पं. रामकिंकर उपाध्याय

(१९८७ ई. में विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के तत्त्वावधान में पण्डितजी के 'नाम-रामायण' पर जो प्रवचन हुए थे, उन्हें 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ टेप से लिपिबद्ध करने का श्रमसाध्य कार्य किया है श्रीराम संगीत महाविद्यालय, रायपुर के सेवानिवृत्त प्राध्यापक श्री राजेन्द्र तिवारी ने। – सं.)

यहीं भौतिक विज्ञान और अध्यात्म के अन्तर की बात आ जाती है। विज्ञान के चमत्कारों को पाना सरल है, पर ईश्वर को पाने में एक कठिनाई है। विज्ञान के जितने भी चमत्कार हैं, ये सब-के-सब नियमों से जुड़े हुए हैं। गणित की तरह सारे नियम हैं। जो व्यक्ति प्रकृति के नियमों को जान ले, प्रकृति के गणित को जान ले, वह विज्ञान के सारे चमत्कारों को प्रकट कर सकता है। यह इस युग में प्रत्यक्ष है, परन्तु यदि ईश्वर के अस्तित्व का प्रश्न उठे, तो ईश्वर को ढूँढ़ने के लिये कौन-सा नियम है? बस यही भेद है।

शक्ति, सामर्थ्य और चमत्कार – सब नियमों के द्वारा मिलता है। परन्तु ईश्वर ही एक ऐसा है, जो नियमों से परे हैं। इसलिये, नारदजी ने एक बार नाराजगी में भगवान से कह दिया था – सबके लिये तो तुमने संसार के विधान बना रखे हैं और तुम स्वयं नियम-कायदों से परे हो –

परम स्वतंत्र न सिर पर कोई ।। १/१३६/१

आज भी जो केवल विज्ञानवादी हैं, वे ईश्वर या आत्मा की खोज की बात करते हैं, पर उन्हें न ईश्वर मिलता है और न आत्मा का ही बोध होता है। उसका कारण क्या है? रामायण में भी यह बड़े दार्शनिक ढंग से समझाया गया है। वही हिरण्यकशिपु त्रेतायुग में रावण बन जाता है। रावण के रूप में उसके जीवन में संसार के बहुत-से चमत्कार हो जाते हैं। वे चमत्कार इतने बड़े-बड़े थे कि सारा संसार उन चमत्कारों से डरने लगा। आज के युग का भी सत्य यही है। आज विज्ञान ने जिन शस्त्रों का निर्माण किया है, वे इतने भयावह हैं कि संसार का प्रत्येक व्यक्ति उसकी कल्पना मात्र करके आतंक से ग्रस्त हो जाता है।

रावण की समस्या का समाधान कैसे हो? इस दिशा में प्रयत्न किया गया। पर जितने व्यक्ति थे, वे समाधान नहीं दे सके। पृथ्वी व्याकुल होकर मुनियों के पास जाती है। मुनि कहते हैं – हमारे पास इस समस्या का समाधान नहीं है। मुनि और पृथ्वी मिलकर देवताओं के पास जाते हैं। देवता कहते हैं – "हमारे पास भी समाधान नहीं है। हम भी रावण के सामने झुके हुए हैं।" हम रामायण में पढ़ते हैं कि देवता भी रावण की सभा में हाथ जोड़े खड़े हैं, तो इसका अभिप्राय यह है कि कितनी भी देववृत्ति-वाला व्यक्ति क्यों न हो, जहाँ सामर्थ्य है, अतुलनीय तेज है, वहाँ पर तो वह दबा हुआ ही दिखाई देगा। तो देवता भी अस्वीकार कर देते हैं। लेकिन खोज जारी है, अन्वेषण चल रहा है। अन्त में सृष्टि-निर्माता सभी ब्रह्मा के पास गये। परन्तु ब्रह्मा भी यह कह देते हैं कि वे नियमों के द्वारा ही सृष्टि का निर्माण करते हैं। कर्मवाद के नियमानुसार जो जैसा कर्म करता है, वैसा फल पाता है –

करम प्रधान बिस्व करि राखा ।
जो जस करइ सो तस फलु चाखा ।। २/२१८/४

वे बोले – रावण ने जो कर्म किये हैं, उनके फल उसके पास ऐश्वर्य तथा सामर्थ्य के रूप में आये हुए हैं और उसके कर्मफल को मिटाने में हम सक्षम नहीं है। ब्रह्मा ने कह दिया – इस विषय में मेरा भी कोई वश चलनेवाला नहीं है – **मोर कछु न बसाई** (१/१८४ छं.)। परन्तु ब्रह्माजी ने अपनी असमर्थता जताने के बाद, जो नियम के परे है, उसकी ओर ध्यान दिलाया। वे बोले – पृथ्वी, तुम चारों ओर भटक रही हो और यह मानकर चल रही हो कि सृष्टि का निर्माता मैं हूँ।

सृष्टि का निर्माता ईश्वर है या ब्रह्मा? पुराणों में यही वर्णन आता है कि सृष्टि का निर्माण ब्रह्मा ने किया है, लेकिन जब ब्रह्मा भगवान की स्तुति करने लगे तो उन्होंने एक बड़ी सुन्दर बात कही। बोले – महाराज, सृष्टि आपने बनाया – **जेहिं सृष्टि उपाई** ...। भगवान पूछ सकते थे – "सब लोग कहते हैं कि सृष्टि तुमने बनाया है और तुम कहते हो कि मैंने बनाया है। दुनिया में यदि कोई बात कही जाय, तो लोग कहते हैं कि बताइये किसने देखा, किसने सुना, गवाह कौन था?" – "आपने जब बनाया, तो आप बिल्कुल अकेले थे। कोई गवाह नहीं था। और मैंने जब बनाया तब देखनेवाले कई थे, इसलिये उन लोगों को भ्रम हो गया है कि सृष्टि मैंने बनायी है। पर वास्तव में बनायी तो आपने ही है –

जेहिं सृष्टि उपाई, त्रिबिध बनाई,
संग सहाय न दूजा ।। १/१८६/५ छंद

तात्पर्य यह है कि नियम के द्वारा जो सृष्टि बनी है, इसके मूल में जो नियामक है, वह स्वयं नियम से परे है। वे ईश्वर हैं। जो नियामक प्रत्यक्ष दिखाई दे रहा है, वह तो

नियम के अनुकूल चलता हुआ दिखाई दे रहा है, पर उस ब्रह्मा का भी जो नियामक है, वह स्वयं उन नियमों से परे है।

तब यह खोज होने लगती है कि वह कहाँ मिलेगा? पहले चारों ओर पूछताछ की जाती है और अन्त में लोगों द्वारा शंकरजी से पूछे जाने पर उत्तर मिलता है – वे कहाँ नहीं हैं? – ''पर महाराज, 'कहाँ नहीं हैं' – यह कहकर तो कोई समाधान नहीं होता। जो पढ़नेवाले विद्यार्थी हैं, उनसे पूछो कि भगवान कहाँ हैं, तो उन्हें भी पुस्तक में पढ़ाया गया है कि भगवान सारे संसार में सर्वत्र व्याप्त हैं। लेकिन महाराज, क्या इससे समाधान हो जायेगा?''

तब भगवान शंकर ने सूत्र दिया। बोले – ''हैं तो सर्वत्र, पर उन्हें प्रगट करना होगा।'' 'सर्वत्र' – यह बड़े महत्त्व का सूत्र है – चाहे नाम-महिमा हो, या रूप का अवतारवाद हो – सर्वत्र प्रगट करने का बड़ा महत्त्व है। देवताओं ने पूछा – महाराज, किस नियम के पालन से वे प्रगट होंगे? वे बोले – यदि ऐसा होता, तो सभी लोग नियम का पालन करके ईश्वर को पा लेते। पर वह नियम से नहीं प्रगट होता, नियम की सीमा में नहीं आता। – तब कैसे प्रगट होता है? शंकरजी ने सूत्र दिया – ईश्वर नियम से नहीं, प्रेम से मिलेगा –

अग जगमय सब रहित बिरागी।
प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ।। १/१८५/७

सृष्टि नियम के आधार पर चल रही है, पर ईश्वर नियम से कभी नहीं मिलता। कहीं लोगों को भ्रम न हो जाय कि ईश्वर इस नियम से मिलता है, तो वह नियम का खण्डन किये बिना नहीं रहता। ईश्वर का सबसे बड़ा खेल यही है कि एक को वह एक तरह से मिलेगा, तो दूसरे को बिल्कुल भिन्न पद्धति से; ताकि कहीं व्यक्ति को धोखा न हो जाय कि मैंने ऐसा-ऐसा किया था, इसलिये मुझे ईश्वर मिल गया।

यह बात आपको रामायण में सर्वत्र दिखाई देगी। मनुजी ने तपस्या की, बड़ी लम्बी साधना की, व्रत किया, उपवास किया, फलाहार किया, फिर फल भी छोड़ दिया, जल भी छोड़ दिया, वायु भी छोड़ दिया और उनकी केवल हड्डी-हड्डी रह गई। परन्तु आगे क्या हुआ? जब आकाशवाणी हुई और भगवान का दर्शन हुआ, तब मनु दुबले नहीं, मोटे थे –

मृतक जिआवनि गिरा सुहाई।
श्रवण रंध्र होइ उर जब आई ।।
हृष्ट पुष्ट तन भए सुहाए ।। १/१४५/७-८

सामने आने के पहले भगवान ने उन्हें मोटा क्यों बना दिया? उन्होंने मानो मनु को बता दिया कि मैं तुम्हारे उपवास आदि से प्रभावित होकर नहीं आया हूँ। यह मत समझना कि मैं दुबलों को दर्शन देता हूँ और मोटों को बिल्कुल नहीं देता। भगवान यहाँ संकेत दे रहे हैं कि ऐसा कोई नियम नहीं है कि जिसमें मुझे बाँधा जा सके, हम तो अपनी मौज से आते हैं। तुमको लगा कि ऐसा-ऐसा नियम पालन करें, अच्छा किया, यह ठीक है कि नियम के पालन से एक विशेषता आती है, पर कहीं यह भ्रम न पाल लेना कि नियम के पालन से मैं मिल जाता हूँ। इसीलिये भगवान शंकर सूत्र देते हैं – ईश्वर नियम से नहीं, प्रेम से मिलते हैं –

प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ।। १/१८५/७

सबसे बड़ी समस्या यह है कि नियम और उसके वैज्ञानिक चमत्कार को प्रगट करना सरल है, पर जो ईश्वर उस नियम के पीछे है, परे है, उसको खोजने के लिये प्रेम की जरूरत है। हिरण्यकशिपु की समस्या यह है कि वह भगवान को खोजता तो है, पर अपने प्रकृति के सिद्धान्तों के अनुसार खोजता है। वह जिस विज्ञान से परिचित है, उसी के आधार पर वह सर्वत्र देखता है, वस्तुओं में देखता है कि कहीं ईश्वर है क्या? अत: उसे कहीं भी ईश्वर का अस्तित्व नहीं दिखाई देता। **जब तक हमारे अन्तःकरण में प्रेम नहीं होगा, तब तक ईश्वर का अस्तित्व हमारे लिये केवल शब्द का विषय होगा, भय का विषय होगा, यथार्थ अनुभूति का विषय नहीं होगा।** उसने सारे ब्रह्माण्ड में प्रवेश किया, प्रकृति के प्रत्येक स्तर में प्रवेश किया, सर्वत्र खोजता रहा, पर भगवान उसे कहीं नहीं मिले। किसी ने हिरण्यकशिपु से कहा – भगवान तो क्षीरसागर में हैं। वह गदा उठाकर कहता है – यदि क्षीरसागर में है, तो वहाँ भी चलेंगे। यहाँ भी वही आसुरी वृत्ति – अपने पुरुषार्थ पर भरोसा। – हम क्षीरसागर भी जा सकते हैं। क्षीरसागर में जाकर तुरन्त भगवान को सूचना दी। पहले हिरण्यकशिपु को बता दिया कि क्षीरसागर में है और बाद में आकर भगवान से कहा कि वह आ रहा है, आप भी सावधान हो जाइये। इस पर भगवान मुस्कुराने लगे। बोले – ''नहीं भाई, अभी लड़ने का मन नहीं है, मुझमें स्वत: लड़ने की कोई प्रेरणा नहीं है।'' ईश्वर के साथ यही बड़ी समस्या है। स्वयं ईश्वर में इच्छा का बिल्कुल अभाव है। इसीलिये ईश्वर का वर्णन करते हुए कहा गया है – वह अनीह है, इच्छारहित है –

एक अनीह अरूप अनामा ।। १/१३/३

भगवान बोले – वह तो लड़ना चाहता है, पर मैं नहीं चाहता। – वह लड़ने के लिये कहेगा, तो आप क्या कहेंगे? भाग जायेंगे क्या? भगवान ने बड़ी सांकेतिक भाषा में कहा – छिप जाऊँगा। हिरण्यकशिपु जब आया, तो सचमुच ही क्षीरसागर खाली पड़ा हुआ था।

ऐसा तो अब भी होता है। तेनसिंग ने हिमालय की यात्रा की और एवरेस्ट की चोटी पर विजय प्राप्त की। कई लोगों ने उनसे पूछा – वहाँ शंकरजी मिले या नहीं? वर्णन तो यही आता है कि शंकरजी हिमालय के सर्वोच्च शिखर कैलाश में वटवृक्ष के नीचे रहते हैं। आप हिमालय पर जाइये, तो वहाँ न आपको वटवृक्ष दिखाई देगा, न शंकरजी। इसका क्या

अर्थ है? यदि आप केवल स्थूल वस्तुओं के आश्रय से ईश्वर के अस्तित्व को खोजने की चेष्टा करेंगे, तो निराशा ही हाथ लगेगी। कोई व्यक्ति हिमालय के सर्वोच्च शिखर पर पहुँच जाय और वहाँ से लौटकर घोषणा कर दे कि यह सब गप्प लिखा हुआ है, मैंने अच्छी तरह से देख लिया, वहाँ कुछ नहीं है। वह बिल्कुल ठीक ही कह रहा है। क्योंकि उसको नहीं दिखाई दिया, तो वह ऐसा कह रहा है।

हिरण्यकशिपु ने भी देखा कि अब तो बिल्कुल प्रमाणित हो गया कि यहाँ भी भगवान नहीं है और वह लौटकर बड़े गर्व से घोषणा करता है कि तुम लोगों ने मूर्खता के कारण किसी ईश्वर की कल्पना कर ली थी और उसकी पूजा कर रहे थे। मैंने अच्छी तरह से प्रयत्न करके देख लिया है कि कहीं कोई ईश्वर नहीं है। वह इतना घमण्डी था कि इसके साथ ही उसने यह भी कहा – ''मैं जानता हूँ कि तुम लोग इतने दुर्बल हो कि किसी ईश्वर के बिना तुम्हारा काम नहीं चल सकता, तो फिर मुझे ही ईश्वर मान लो; इससे अच्छी कोई बात नहीं हो सकती।'' इसका परिणाम क्या हुआ?

मनुष्य में जब सफलता और चमत्कार आते हैं, तो उसे भ्रम हो जाता है कि मैं ही ईश्वर हूँ, दूसरा कौन ईश्वर है –

ईश्वरोऽहमहं भोगी सिद्धोऽहं ...। (गीता, १६/१४)

हिरण्यकशिपु का सत्य केवल किसी विशेष युग और इतिहास का सत्य नहीं है, वह प्रत्येक काल का सत्य है। प्रत्येक सक्षम व्यक्ति का सत्य है। फिर एक दूसरी बात सूत्र के रूप में आई। नारदजी ने देखा कि भगवान तो क्षीरसागर में ज्यों-के-त्यों विराजमान हैं। नारदजी ने भगवान से पूछा – महाराज, आप कहाँ छिप गये थे? भगवान ने बड़ी संकेत भरी भाषा में कहा – ''मैं जाकर हिरण्यकशिपु के हृदय में छिप गया था।'' यह बड़े पते की बात है। वह सर्वत्र मुझे खोज सकता था, पर अपने हृदय में तो खोज ही नहीं सकता था। प्रेम का केन्द्र हृदय में ही विद्यमान है; और ईश्वर प्रेम के द्वारा ही तो प्रकट होता है –

प्रेम तें प्रभु प्रगटइ जिमि आगी ।। १/१८५/७

यदि उसके अन्त:करण में ईश्वर के अस्तित्व के प्रति प्रेम होता, तो ईश्वर उसे बाहर भी दिखाई दे सकता था और भीतर भी। जिसके अन्त:करण में प्रेम है, वह ईश्वर को बाहर ढूँढ़े तो बाहर भी मिलेगा और भीतर ढूँढ़े तो भीतर भी मिलेगा।

पुष्प-वाटिका में यही तो होता है। सीताजी पार्वतीजी का पूजन कर रही हैं। एक सखी ने जाकर श्रीराम का दर्शन किया। उनके दर्शन से वह इतनी प्रभावित हुई कि आँखों में अश्रु-प्रवाह, शरीर में रोमांच लिये वह चली आती है –

तासु दसा देखी सखिन्ह, पुलक गात जलु नैन ।
कहु कारनु निज हरषु कर, पूछहिं सब मृदु बैन ।।
१/२२८

– क्या हुआ? – ईश्वर के अस्तित्व का संकेत मिला। सन्त और आचार्य बताते हैं – जिन्होंने ईश्वर का दर्शन किया है, साक्षात्कार किया है, उनकी दशा कुछ अनोखी हो जाती है। उस सखी की वही अनोखी दशा हो गयी है। सुनकर सीताजी के मन में भी उत्कण्ठा जाग्रत होती है और तब जिस सखी ने दर्शन किया था, उसी को आगे कर लेती हैं।

चली अग्र करि प्रिय सखि सोई ।। १/२२९/८

यह सन्त और सद्गुरु के पीछे चलकर ईश्वर को पाने की इच्छा का संकेत करता है। अभी ईश्वर के कौतुक की चर्चा हो रही थी। ईश्वर ने यहाँ भी कौतुक किया। जब वह सखी सीताजी को लेकर गयी, तो जहाँ सखी ने देखा था, वहाँ श्रीराम नहीं मिले। बड़ा आश्चर्य हुआ – कहाँ चले गये?

अब वही संकेत आता है कि यदि ईश्वर वहीं दर्शन दे देता, जहाँ उस सखी को दिया था, तो सिद्ध हो जाता कि ईश्वर केवल एक ही देश में रहता है और जब मिलेगा तो वहीं मिलेगा। परन्तु ईश्वर ने बता दिया कि – अरे, हम तो चाहे जहाँ मिल जायँ, यह सोचना हमारा काम है कि हम कहाँ मिलेंगे। किस स्थान पर कैसे मिलेंगे? नगर में मिलेंगे या वन में, घर में मिलेंगे या बाहर।

वहाँ न मिलने के दो परिणाम हो सकते हैं – या तो सीताजी को सखी के ऊपर सन्देह हो जाय कि तुमने कहा था यहाँ है, पर यहाँ नहीं है, तुमने देखा ही नहीं होगा। अथवा यह भी हो सकता है कि अन्त:करण में व्याकुलता उत्पन्न हो जाय। यदि किसी महात्मा या विशेष व्यक्ति को ईश्वर का दर्शन हुआ हो और हम उस रूप में साक्षात्कार न कर सकें, तो दो सम्भावनाएँ हैं – या तो हम सन्त की वाणी पर ही अविश्वास करने लगें कि ये ठीक नहीं कह रहे हैं, अथवा हम स्वयं ही ढूँढ़ना प्रारम्भ कर दें। यही हुआ। जब सीताजी को वहाँ नहीं दिखे तो वे चिन्तित होकर चारों ओर देखने लगीं –

चितवति चकित चहूँ दिसि सीता ।
कहँ गए नृप किसोर मनु चिन्ता ।। १/२३२/१

यही साधना का क्रम है – अन्त:करण में ईश्वर को पाने की उत्कण्ठा और न मिलने पर चिन्ता। गोस्वामीजी कहते हैं – अन्त:करण में प्रेम का श्रीगणेश व्याकुलता से ही होता है। उत्कण्ठा और व्याकुलता – ये प्रेम के प्रारम्भिक लक्षण हैं, जिनके द्वारा व्यक्ति के अन्त:करण में प्रेम के प्रति प्रवृत्ति होती है। जब व्याकुलता उत्पन्न हुई तब – सखियों ने दिखाया कि वह देखिये, वहाँ लता की ओट में देखिये –

लता ओट तब सखिन्ह लखाए ।
स्यामल गौर किसोर सुहाए ।। १/२३२/३

सीताजी व्याकुलता के कारण उतनी एकाग्रता के साथ नहीं ढूँढ़ पा रहीं थीं और सखियाँ उन्हें ढूँढ़ लेती हैं, पर लता के आवरण में। प्रश्न उठता है कि ईश्वर भीतर है या बाहर।

पहले दिखाई पड़ा कि बाहर है; और अब सीताजी क्या कर रहीं हैं? – नेत्रमार्ग से श्रीराम को हृदय में ले आती हैं –

लोचन मग रामहि उर आनी ।
दीन्हें पलक कपाट सयानी ।। १/२३२/७

सीताजी के दर्शन की पद्धति बड़ी अद्‌भुत है और अन्य लोगों से बिल्कुल भिन्न है। पुष्पवाटिका में श्रीराम लताकुंज के सामने हैं, पर वे आँखें मूँदकर उनका दर्शन कर रही हैं।

विवाह के बाद श्रीराम कोहबर में लाये गये। कोहबर में तो केवल स्त्रियाँ ही होती हैं। चारों राजकुमार हैं, स्त्रियाँ बैठी हुई हैं और सभी की दृष्टि श्रीराम की ओर लगी हुई है। परन्तु सखियों को यह देखकर आश्चर्य हुआ कि सीताजी ने एक बार भी दृष्टि उठाकर श्रीराम की ओर नहीं देखा। आश्चर्य हुआ कि हम जिनके रूप को अपलक निहार रही हैं, उनको ये देख ही नहीं रही हैं। एक चतुर सखी ने कहा – देख तो रही हैं, पर देखने की एक नई कला दीख रही है। कैसे देख रही हैं? सीताजी श्रीरामजी की ओर नहीं, बड़ी एकाग्र दृष्टि से अपने हाथ की ओर देख रही हैं। और भी गहराई से देखा गया, तो लगा कि हाथ नहीं, बल्कि हाथ में जो मणि-जड़ित कंगन पहने हुए हैं, उसे देख रही है। फिर और गहराई से देखा गया, तो लगा कि उनके हाथ के कंगन में जड़ी हुई मणि पर श्रीराम का प्रतिबिम्ब पड़ रहा है और सीताजी उस मणि में ही श्रीराम का दर्शन कर रही हैं।

सखियों ने बाद में सीताजी से पूछा कि जब बिम्ब प्रत्यक्ष हो, तो प्रतिबिम्ब को देखने की क्या जरूरत थी? जब श्रीराम सामने बैठे हुए थे, तो आप उन्हें अपने मणि-कंकण में क्यों देख रही थीं? सीताजी ने कहा – यदि मैं उस रूप में देखती, तो लगता कि वे हमसे अलग हैं और ईश्वर जब तक अपने हाथ में न आ जाय, तब तक वह सबका ईश्वर हमारे काम का नहीं है। ईश्वर हमारे हाथ में आ जाय, हमारा बन जाय, यही प्रेम की परिपाटी है। वहाँ पर भी मणि-कंकण में देखने का तात्पर्य यही है। दृष्टि स्थिर है, हाथ स्थिर है, वे प्रभु के प्रतिबिम्ब को देख रही हैं –

निज पानि मनि महुँ देखिअति
मूरति सुरूप निधान की ।।
चालति न भुजबल्ली बिलोकनि
बिरह भय बस जानकी ।। १/३२७/५ छंद

इसमें सूक्ष्म भाव है। दर्शन में एक तरह की तृप्ति का बोध होता है और तब सावधानी नहीं रहती। 'विनय-पत्रिका' में गोस्वामीजी कहते हैं – ईश्वर की याद ऐसे आनी चाहिये जैसे दरिद्र को धन की याद आती है। प्रेम में जो निरन्तर व्याकुलता और उत्कण्ठा है, यदि बगल में बैठतीं, तो यह संतोष हो जाता कि दर्शन हो रहा है, पर सीताजी को हर क्षण डर लगा हुआ है कि मेरी आँखें हिलीं, तो दर्शन बन्द हो जायेगा और हाथ हिला तो भी दर्शन बन्द हो जायेगा। हाथ स्थिर है, नेत्र स्थिर हैं, मणि स्थिर है – भगवान श्रीराम के साक्षात्कार की यह अद्‌भुत पद्धति गोस्वामीजी उस प्रसंग में प्रगट करते हैं। यहाँ सामने श्रीराम हैं और पुष्पवाटिका में भी वही वर्णन है। प्रेम में दूरी असह्य है। तो वे क्या चेष्टा करती हैं – सीताजी उन्हें नेत्रमार्ग से हृदय में ले आती हैं और पलक के कपाट बन्द कर देती हैं। वहाँ भी सीताजी और प्रभु के बीच लता का जो आवरण था, उसे मिटाने के लिये उन्हें हृदय में ले आईं। लेकिन बाद में श्रीराम उनके प्रेम की विलक्षण दशा देखकर प्रगट हो गये। सखियाँ उनको संकेत कर देती हैं – ध्यान बाद में कर लीजियेगा, अभी तो भीतर ही नहीं, बाहर भी देख लीजिये –

बहुरि गौरि कर ध्यान करेहू ।
भूपकिसोर देखि किन लेहू ।। १/२३४/२

बड़ा अनोखा आनन्द है – भीतर भी दिखाई दे रहे थे और आँख खोलकर देखा, तो बाहर भी दिखाई पड़े। जिसके अन्त:करण में प्रेम है, वह ईश्वर को भीतर भी देख सकता है और बाहर भी। पर जिसके अन्त:करण में प्रेम नहीं है, वह बाहर तो देख ही नहीं सकता और भीतर जाने की उसमें सामर्थ्य नहीं है।

हिरण्यकशिपु का सारे ब्रह्माण्ड में प्रवेश है। यह युग का सत्य है। पुराण के सत्य को हम अपने युग में भी घटाकर देखें। आज भी ईश्वर के अस्तित्व के प्रति लोगों में जो अनास्था और सन्देह दिखाई दे रहा है, उसके मूल में यही वृत्ति विद्यमान है। इसका उत्तर कौन देगा? गोस्वामीजी कहते हैं – प्रह्लाद। बड़ी अनोखी बात है। जब हिरण्यकशिपु की पत्नी के गर्भ में प्रह्लाद आ गये थे, तो इन्द्र को लगा कि जब हिरण्यकशिपु अकेले ही इतना अत्याचार कर रहा है, तो जब इसका पुत्र जन्म लेगा तो न जाने क्या करेगा? इसलिये अच्छा होगा कि इस गर्भ को ही नष्ट कर दें। इन्द्र ने जब यह संकल्प किया, तो नारदजी सामने आ गये। बोले – "क्या तुम समझते हो कि हिरण्यकशिपु की समस्या का समाधान तुम ढूँढ़ लोगे? तुमने यह भी मान लिया कि हिरण्यकशिपु से जिसका जन्म होगा, वह भी उसी की वृत्तिवाला होगा? नहीं-नहीं, तुम विश्वास रखो, इसी गर्भ से वह बालक उत्पन्न होगा, जो हिरण्यकशिपु के विनाश का कारण बनेगा।" और तब इन्द्र रुक जाते हैं। प्रह्लाद कौन है? ईश्वर के अस्तित्व पर आस्था का श्रीगणेश कहाँ से होगा? कहते हैं कि प्रह्लाद ने गर्भ में ही जो सुना, उसी से तभी वे भगवान के भक्त बन गये। यह केवल प्रह्लाद के लिये ही सत्य नहीं है, हम लोगों में जो कोई भी भक्त बनेगा, वह गर्भ से बनेगा, तभी बनेगा।

यदि हम सामान्य दृष्टि से देखेंगे, तो हमें लगेगा कि माँ के गर्भ से जन्म हुआ, माता-पिता के माध्यम से जन्म हुआ।

अगर यह वृत्ति प्रह्लाद में होती, तो वे पितृभक्ति का आदर्श उपस्थित करते। पर गर्भ का क्या अर्थ है? गर्भ ही अस्तित्व का सबसे बड़ा आधार है। माता जन्म देने के बाद बालक की रक्षा कर सकती है, पर गर्भ में उसकी रक्षा कौन करता है? परीक्षित के जीवन में भी इस ओर इंगित किया गया। व्यक्ति जब तक केवल जन्म और मृत्यु के बीच में देखता रहेगा, तब तक उसमें ईश्वर के प्रति आस्था का उदय नहीं होगा। यदि वह जन्म से पहले की गर्भ की स्थिति पर विचार करे और मृत्यु के बाद की स्थिति पर विचार करे, तो उसमें आस्तिकता आयेगी। एक भक्त ने भगवान से कहा – महाराज, जब आपने आदि और अन्त – दोनों अपने हाथ में रखा है, तो बीचवाला भी आप ही रखिये, हमें इसके चक्कर में क्यों डाल दिया? आदि और अन्त – इस सत्य को प्रह्लाद जानते हैं, यही आस्थावाद है और इसी को भक्तों ने बारम्बार याद किया है। रहीम का एक प्रसिद्ध दोहा है –

रन बन बैरी विपति में, रहिमन मरिय न रोय।
जो रक्षक जननी जठर, सो हरि गयउ कि सोय।।

– युद्ध, वन, शत्रु या विपत्ति में पड़ो, तो रो-रोकर मत मरो; जिन हरि ने माँ के पेट में रक्षा की, वे सो नहीं गये हैं।

इस प्रकार, एक ओर है अनास्था या दैत्यवृत्ति और दूसरी ओर है अस्तित्व और आस्था, जिसका श्रीगणेश गर्भ से हुआ। उसके बाद प्रह्लाद का जन्म होता है और फिर वे धीरे-धीरे बढ़ते हैं। हिरण्यकशिपु बड़ा प्रसन्न है कि उसका पुत्र उसकी इच्छा के अनुकूल ही तो चलेगा। यहीं पर उसको हार माननी पड़ती है। वह सारे जगत् को अपनी इच्छा के अनुसार चलाता है, पर अपने ही पुत्र को अपनी इच्छा के अनुरूप नहीं बना पाता। इसी में पुरुषार्थवादी व्यक्ति की हार है। वह सब कुछ कर डालता है, सब कुछ बदलता हुआ दीख पड़ता है, परन्तु न तो वह स्वयं को ही बदल पाता है और न ही उसको, जिसे वह बदलने का संकल्प करता है। प्रह्लाद को शिक्षा के लिये भेजा गया, पर वे तो गर्भ से ही शिक्षित हैं, भगवन्नाम के महान् विश्वासी हैं, आस्थावान हैं, क्योंकि गर्भ में उन्हें भगवान की उपस्थिति और इस बात का भान हो चुका है कि भगवान ने ही गर्भ में मेरी रक्षा की, अन्यथा मैं कैसे जीवित रह सकता था। इसके बाद प्रह्लाद अन्य असुर बालकों को भी अपनी सरल भाषा में भगवान के नाम की महिमा सुनाते हैं। विद्यालय में पूरा साल बीत जाने के बाद हिरण्यकशिपु ने प्रह्लाद को सभा में बुलाया और पूछा – तुमने क्या शिक्षा प्राप्त की? जब प्रह्लाद ने भगवान की भक्ति और नाम की महिमा बताना शुरू किया, तो हिरण्यकशिपु के क्रोध की सीमा न रही – "जीवन भर मैं जिस ईश्वर के अस्तित्व को मिटाता रहा, मेरा बेटा ही उसका भक्त बन गया। मेरे लिये इससे बढ़कर अपमान की अन्य कोई बात ही नहीं हो सकती।" उसने प्रह्लाद के गुरु से पूछा – तुमने यह क्या पढ़ाया? किसी विद्यार्थी के पढ़कर आने पर उससे पूछा जाय कि तुमने क्या पढ़ा और वह यदि कह दे – रामनाम, तो उसको तो आज भी घरवाले अच्छी डॉट पिलायेंगे और शिक्षक भी उसे अनुत्तीर्ण किये बिना नहीं रहेंगे।

चैतन्य महाप्रभु व्याकरण शास्त्र के बड़े भारी पण्डित थे। वे गयाधाम गये, तो उनके हृदय में भक्तिरस का प्रादुर्भाव हुआ। जब वे लौटकर आये, तो विद्यार्थियों ने सिर पिट लिया – अब इनसे क्या पढ़ना! अब उनको दिखाई देने लगा कि सारे शास्त्रों का तात्पर्य एकमात्र भगवान का नाम ही है। प्रह्लाद को दिखाई देता है कि जो कुछ है, वह दो अक्षरों के 'राम'-नाम में ही समाया हुआ है। रामायण में सूत्र रूप में कहा गया कि विद्या के दो रूप हैं। कागभुशुण्डि जी ने विद्या के एक रूप को बड़ा कठोर शब्द कह दिया। वे बोले – जब पिता मुझे पढ़ाते थे, तो मुझे अच्छा नहीं लगता था –

समझउँ सुनउँ गुनउँ नहिं भावा। ७/१०९/५

एक ऐसी भी स्थिति आती है कि जब पढ़ने का चरम फल प्राप्त हो जाता है और पढ़ने की वृत्ति शान्त हो जाती है। पूछा गया – उसके बाद? तो उन्होंने कहा – ऐसा कौन होगा, जो कामधेनु को छोड़कर गधी का सेवन करेगा –

कहु खगेस अस कवन अभागी।
खरी सेव सुरधेनुहि त्यागी।। ७/१०९/७

यह व्यंग्यात्मक भाषा है। आपकी विद्या गर्दभवृत्ति से प्रेरित है या गौवृत्ति से? गाय उतना बोझ नहीं ढो सकती, जितना गधा ढोता है। गधे पर आप चाहे जितना लादते चले जाइये, वह लदता चला जायेगा। पर गाय पर न आप बोझ लादने की कल्पना कर सकते हैं और न वह उठा ही सकेगी। परन्तु अन्तर यह है कि गाय आपको दूध देकर तृप्ति प्रदान करती है, प्यास मिटाती है, स्वच्छता देती है। और गधा जो कुछ ढोता है, वह तो मात्र बोझ ही ढोता है –

यथा खरश्चन्दन भारवाही
भारस्य वेत्ता न तु चन्दनस्य।।

विद्या का अर्थ यदि केवल उसका बोझ ही ढोना है, तो ऐसी विद्या मनुष्य के जीवन में यह भ्रम पैदा कर सकती है कि मुझे तो इतने हजार शब्द याद हैं, मैंने इतने हजार ग्रन्थ पढ़े हैं। पर अगर उलटकर देखें, तो सबका सार क्या है?

समुद्र-मन्थन के समय जब उसमें से जहर निकला, तो देवताओं ने भगवान से कहा – महाराज, अब क्या करें? वे बोले – शंकरजी के पास ले जाइये, उन्हीं को पिला दीजिये। किसी ने कहा – महाराज, शंकरजी को विष पिलाने के लिये कहा जा रहा है। यह तो उनके साथ बड़ा अन्याय होगा। भगवान ने हँसकर कहा – अरे भाई, तुम्हें पता नहीं है। एक बार पहले भी समुद्र-मन्थन हुआ था और उसमें से जब अमृत

निकाला, तो शंकरजी अकेले ही पी गये, इसलिये आज इनको विष अकेले ही पीना पड़ेगा। कौन से समुद्र का मन्थन हुआ था? रामायण में आता है – वेद-समुद्र का मंथन हुआ था। वेदों में अनेक रत्न हैं। वेद रत्नों की खान है। सोचा गया कि वेद का मन्थन करके उसमें से अमृत निकाला जाय। जब मन्थन किया गया, तो वेद से इतने प्रकार के मंत्र निकले, उसमें से बहुत-से अद्भुत और चमत्कारपूर्ण निरूपण निकले। सब अद्भुत थे। उन मंत्रों का क्या हुआ? सब विद्वानों ने अलग-अलग – किसी ने वेद के ज्ञानमूलक, किसी ने कर्ममूलक, किसी ने चमत्कारमूलक मंत्र ले लिये। उस मन्थन में जब 'राम'-नाम निकला, तो यह सोचकर उस ओर लोगों का ध्यान भी नहीं गया कि इतने बड़े-बड़े मंत्रों के बीच ये तो दो अक्षर मात्र हैं। शंकरजी से पूछा गया – महाराज, आप भी कुछ लेंगे? उन्होंने कहा – बस, ये ही दो अक्षर हमें दे दीजिये, बाकी सब आप लोग ले जाइये। भगवान शंकर ने उस रामनाम के अमृत का पान किया। रामायण में वह श्लोक मिलता है – यह 'राम'-नाम वेदरूपी समुद्र से उत्पन्न हुआ है, कलियुग के मल का नाश करनेवाला है, अव्यय है और भगवान शंकर के सुन्दर तथा श्रेष्ठ मुख-चन्द्र में सर्वदा सुशोभित रहता है –

ब्रह्माम्भोधिसमुद्भवं कलिमल-प्रध्वंसनं चाव्ययं
श्रीमच्छम्भु-मुखेन्दु-सुन्दरवरे संशोभितं सर्वदा ।। ४/२

पाण्डित्य में एक बहुत बड़ी समस्या है और वह यह कि कभी-कभी सरल-सा अन्तिम तत्त्व पाण्डित्य की जटिलता में उलझकर रह जाता है, उसके प्रति मन में वह आस्था उत्पन्न नहीं होती है। इतने ऋषि-मुनियों के होते हुए भी केवल शंकरजी की ही राम-नाम में आस्था हुई। उन्होंने कहा – सारा वेद-शास्त्र आप लोग ले जाइये और राम-नाम मुझे दे दीजिये। इसीलिये जब विष को शंकरजी के पास ले जाया गया, तो वे मुस्काराये, उन्होंने पी लिया और विष पीकर भी वे प्रसन्न हुये। किसी ने कहा – महाराज, हम लोग तो विष की ज्वाला से जल गये थे, आप कैसे बच गये। शंकरजी ने कहा – इसमें मेरा कोई चमत्कार नहीं। बोले – विष आप लोग लाये थे और राम-नाम पहले से था। मैंने विष और राम को मिला दिया, तो विश्राम हो गया। वह तो राम-नाम का ही चमत्कार है, इसमें मेरा कोई चमत्कार नहीं है।

वस्तुतः सार-तत्त्व तो बड़ा ही सहज है, परन्तु मनुष्य की प्रवृति ऐसी है कि वह जटिलताओं में जितना आकृष्ट होता है, कठिनाइयों के प्रति उसके मन में जितना आकर्षण होता है, उतना आकर्षण सहज-सरल राम-नाम में नहीं होता है।

यही विद्या का वह तत्व है, हिरण्यकशिपु और प्रह्लाद की दृष्टि का यही अन्तर है। एक ओर अस्तित्ववादी, आस्थावान विश्वासी प्रह्लाद की रामनाम पर अविचल आस्था है और दूसरी ओर उतना ही सबल, उतना ही सशक्त पुरुषार्थवादी, चमत्कारों से भरा हुआ अनस्तित्ववादी अनास्थावादी हिरण्य-कशिपु है। इसीलिये प्रह्लाद जब अग्नि में नहीं जले, तो हिरण्यकशिपु बिल्कुल प्रभावित नहीं हुआ। लोगों ने कहा – देखा – भगवान का प्रभाव है? उसने कहा – "मैं भी तो आग में जाता हूँ, मुझे भी तो आग नहीं जलाती। जैसे पक्षी का बेटा आकाश में उड़ने लगे तो यह उसका कोई चमत्कार नहीं है। यह तो मेरा बेटा होने का फल है, यह किसी ईश्वर के अस्तित्व का प्रमाण नहीं है।"

इसके बाद उन दोनों में टकराहट होती है। और अन्त में आस्था के द्वारा अनास्था पर विजय प्राप्त होती है। गोस्वामीजी कहते हैं – जब हम प्रह्लाद जैसी आस्था लेकर जप करेंगे, तो उस आस्था के फलस्वरूप, जैसे रत्न से मूल्य प्रगट होता है, उसी प्रकार हमारे विश्वास के माध्यम से नाम से उसकी महिमा का मूल्य प्रगट होगा, नाम का तत्व, उसकी सामर्थ्य प्रकट होगा। इसके परिणामस्वरूप हम युग की समस्या का समाधान पा सकेंगे। इस प्रकार गोस्वामीजी द्वारा नाम का सतयुगीन रूप प्रस्तुत किया गया है। ❖ (क्रमशः) ❖

निष्काम कर्म का उद्देश्य

शुरू-शुरू में पौधे को चारों ओर से घेरा लगाकर गाय-बकरी आदि से बचाना पड़ता है। परन्तु एक बार वह पौधा बढ़कर बड़ा वृक्ष बन जाय, तो फिर कोई भय नहीं रह जाता। तब तो सैकड़ों गाय-बकरियाँ आकर उसके नीचे आसरा लेती हैं, उसके पत्तों से पेट भरती हैं। इसी तरह, साधना की प्रारम्भिक अवस्था में स्वयं को कुसंगति और सांसारिक विषय-बुद्धि के प्रभाव से बचाना चाहिए। परन्तु एक बार सिद्धि-लाभ हो जाने के बाद फिर कोई भय नहीं रहता। तब कुभाव या संसारासक्ति तुम्हारा कुछ बिगाड़ नहीं सकेगी। बल्कि अनेक संसारी लोग तुम्हारे पास आकर शान्ति प्राप्त करेंगे।

– *श्रीरामकृष्ण*

भागवत की कथाएँ (२२)

स्वामी अमलानन्द

(श्रीमद् भागवतम् पुराणों में सर्वश्रेष्ठ माना जाता है। उसकी कथाओं ने युग-युग से मनुष्य को धर्म के प्रति आस्था-विश्वास दिया है जिससे भारतवासियों ने दृढ़ आत्म-विश्वास प्राप्त किया है। उन्हीं कथाओं में से लेखक ने कुछ का चयन करके सरल भाषा तथा संक्षेप में पुनर्लेखन किया है। 'विवेक-ज्योति' के लिये इस ग्रन्थ का सुललित अनुवाद किया है छपरा के डॉ. केदारनाथ लाभ, डी. लिट्. ने। – सं.)

द्वादश स्कन्ध

युगधर्म और शुकदेव का अन्तिम उपदेश

परीक्षित के युगधर्म सम्बन्धी प्रश्न के उत्तर में शुकदेव ने कहा – "सत्ययुग में सत्य, दया, तपस्या और दान – धर्म के ये चार चरण (पाद) होते हैं। त्रेता में एक चरण का क्षय होकर असत्य, हिंसा, असन्तोष और कलह के रूप में अधर्म का एक चरण जुड़ जाता है। द्वापर में धर्म के एक और चरण का क्षय हो जाता है तथा अधर्म का एक और चरण जुड़ जाता है। कलियुग में धर्म के तीन चरणों का क्षय हो जाता है और केवल एक ही चरण बच जाता है। सत्ययुग में सत्वगुण के कारण लोगों की ज्ञान तथा तपस्या में प्रवृत्ति होती है; त्रेतायुग में रजोगुण के कारण कामनामूलक कर्मों तथा यश-अर्जन में रुचि हो जाती है, द्वापर में रजो तथा तमोगुण के मिश्रित गुणों के कारण लोगों की मान, दम्भ आदि में प्रवृति हो जाती है और कलियुग में तमोगुण की प्रधानता के कारण माया, असत्य, आलस्य, शोक तथा मोह, भय आदि में लोगों की प्रवृत्ति होती है।

सत्ययुग में ध्यान, त्रेता में यज्ञ, द्वापर में विष्णु की पूजा और कलियुग में श्रीहरि के कीर्तन द्वारा मुक्ति की प्राप्ति होती है। इसीलिए, हे परीक्षित, आपका कर्तव्य है कि आप अपने हृदय में केशव को स्थापित करें। इसी के फलस्वरूप आप मृत्यु के उपरान्त परम गति को प्राप्त करेंगे।

महाराजा परीक्षित के ये कुछ दिन भलीभाँति ही व्यतीत हुए। आज ज्ञान के आलोक से उनका चित्त आलोकित हो उठा था। इधर मृत्यु का समय भी आ पहुँचा था। इसीलिये शुकदेव ने अन्तिम उपदेश के रूप में कहा –

"राजन्! अब आपकी मृत्यु होगी, आपकी यह बुद्धि पशु-बुद्धि है। आप इस बुद्धि का परित्याग कीजिए। आपकी देह जैसे पहले नहीं थी, बाद में उत्पन्न हुई और इसके बाद नष्ट हो जाएगी; परन्तु आपका स्वरूप वैसा नहीं है, आपका जन्म नहीं हुआ, क्योंकि आप देह नहीं हैं, आप आत्मा हैं।[१]

"लकड़ी में आग रहती है, परन्तु लकड़ी ही आग नहीं है। आत्मा के देह में रहने पर भी आत्मा देह से अलग है। जैसे घड़े के फूट जाने पर घड़े के भीतर का आकाश महाकाश हो जाता है, वैसे ही शरीर के नाश हो जाने पर जीव ब्रह्म हो जाता है। तेल, बाती और आग – इन तीनों के मिलने पर दीपक जलता है, वैसे ही शरीर के साथ आत्मा के मिलन को जन्म कहा जाता है। सत्व, रजस् और तमस् – इन तीन गुणों से देह की उत्पत्ति, स्थिति और विनाश होते हैं। परन्तु आत्मा स्वयं-प्रकाश है और देह का आधार होने पर भी वह आकाश की भाँति निर्लिप्त रहती है। आपने इस तत्त्व को जान लिया है, अब वासुदेव श्रीकृष्ण के ध्यान में तन्मय हो जाइए और अपने हृदय में स्थित अपनी अन्तरात्मा के विषय में ज्ञान को दृढ़ कर लीजिये। ऐसा होने पर ब्रह्मशाप आपका कुछ नहीं कर सकेगा। ब्राह्मण के वचन से प्रेरित तक्षक नाग आपको डँसेगा, परन्तु आपके आत्म-स्वरूप का कुछ भी नहीं बिगाड़ सकेगा। आप ही समस्त मृत्यु के ईश्वर-स्वरूप मृत्युंजय हैं, कोई भी मृत्यु आपको डँसने में सक्षम-समर्थ नहीं होगी।[२] 'मैं वह परम धाम परम पद ब्रह्म हूँ' – इस प्रकार का चिन्तन करते हुए आप आत्मा को पूर्ण ब्रह्म में विलीन कीजिए। फिर इसके बाद आप देखेंगे कि आपको डँसनेवाला तक्षक नाग भी आपकी आत्मा है, आपकी देह भी आत्मा है तथा इस चराचर जगत् में आप जो कुछ देखते हैं, वह सब कुछ आत्मा है। वे सब आपकी आत्मा से जरा भी पृथक् नहीं हैं।

परीक्षित का देहत्याग

भागवत की कथा समाप्त होने को आयी। राजा परीक्षित ने शुकदेव के चरण-कमलों पर अपना सिर रखकर गद्‌गद्

---

१. त्वं तु राजन् मरिष्येति पशुबुद्धिमिमां जहि।
न जात: प्रागभूतोऽद्य देहवत्त्वं न नङ्क्ष्यसि॥ १२/५/२

२. चोदितो विप्रवाक्येन न त्वां धक्ष्यति तक्षक:।
मृत्यवो नोपधक्ष्यन्ति मृत्यूनां मृत्युमीश्वरम्॥ १२/५/१०

कण्ठ से कहा – आपकी कैसी कृपा है ! आपने मुझे अनादि, अनन्त श्रीकृष्ण की कथा सुनायी। मैं कृतकृत्य हूँ। चाहे तक्षक नाग अथवा अन्य किसी भी प्रकार से मृत्यु मेरे पास क्यों न आए, मुझे कोई भय नहीं। मेरा अज्ञान मिट चुका है। आपने मुझे परम मंगलमय भगवत्पद दिखा दिया है। मैं अभय ब्रह्मपद में प्रवेश कर गया हूँ। आज्ञा दीजिए कि मैं अपने मन को श्रीकृष्ण में निमग्न कर प्राणों का त्याग करूँ।''

राजा परीक्षित को देहत्याग की अनुमति देकर शुकदेव चले गए। राजा परीक्षित गंगाजी के तट पर कुश का आसन बिछाकर उत्तर की ओर मुँह करके बैठ गये और स्थिर मन से परमात्मा का ध्यान करने लगे।

शृंगी ऋषि के शाप को सत्य करने के लिए तक्षक नाग राजा को डँसने चला। रास्ते में उसकी काश्यप से भेंट हुई। काश्यप विषहारी थे। उनमें क्षमता थी कि चाहे जैसा भी विष क्यों न हो, वे उसे चूसकर राजा को बचा सकते थे। परन्तु तक्षक ने काश्यप को काफी धन देकर उसे वापस लौटा दिया। तक्षक ने काश्यप की पोशाक पहनी और ब्राह्मण के कपट-वेश में छिपते हुए जाकर राजा को डँस लिया। तक्षक का विष आग की तरह था। राजा परीक्षित अब ब्रह्मभाव को प्राप्त हो चुके थे, ऋषि हो चुके थे। राजा से राजर्षि हो चुके थे। तक्षक के विष से दर्शकों के सामने ही राजर्षि का शरीर दग्ध हो गया। राजा परीक्षित आनन्दमय सच्चिदानन्द में विलीन हो गये। माया में आबद्ध संसारी लोग हाहाकार कर उठे। परन्तु दिव्य देहधारी देवताओं ने पुष्पवृष्टि करते हुए राजा के इस महाप्रयाण का अभिनन्दन किया।

जनमेजय का सर्पयज्ञ

परीक्षित के पुत्र थे जनमेजय। उन्होंने पिता की मृत्यु का बदला लेने के लिए एक विराट् सर्पयज्ञ का आयोजन किया। पुरोहित एक-एक सर्प का नाम लेकर यज्ञकुण्ड में आहुति देते और वह सर्प आग में जलकर राख होता जाता। तक्षक भयभीत होकर इन्द्र की शरण में गया। जनमेजय के निर्देश पर पुरोहितों ने तक्षक के साथ इन्द्र का भी नाम लेकर आहुति दी। तत्काल दीख पड़ा कि इन्द्र अपने विमान से तक्षक के साथ नीचे यज्ञस्थल पर आ गए हैं। देवगुरु बृहस्पति दौड़े हुए आये और राजा जनमेजय से बोले – ''राजन् ! जीवन-मरण अपने कर्म के द्वारा ही होते हैं। सुख-दु:ख को देनेवाला कोई दूसरा नहीं है।[३] अत: इस मारण-यज्ञ को बन्द कीजिये। राजा जनमेजय महर्षि को सम्मान देते हुए यज्ञ से विरत हुए। जनमेजय के इस महायज्ञ की कथा एक महाकाव्य के माध्यम से अमर हो गयी है, जिसे 'महाभारत' कहते हैं।

१. जीवितं मरणं जन्तोर्गति: स्वेनैव कर्मणा।
राजंस्ततोऽन्यो नान्यस्य प्रदाता सुखदु:खयो:॥ १२/६/२५

उपसंहार : भागवत के कुछ अन्तिम श्लोक

सर्वभूतेषु यः पश्येद् भगवद्भावमात्मनः।
भूतानि भगवत्यात्मन्येष भागवतोत्तमः॥
ईश्वरे तदधीनेषु बालिशेषु द्विषत्सु च।
प्रेममैत्रीकृपोपेक्षा यः करोति स मध्यमः॥
आचार्यामेव हरये पूजां यः श्रद्धयेहते।
न तद्भक्तेषु चान्येषु स भक्तः प्राकृतः स्मृतः॥
११/२/४५-४७

– जो दूसरों को अपने समान देखते हैं, वे श्रेष्ठ भक्त हैं। जो दूसरों के प्रति प्रेम, मैत्री, कृपा और उपेक्षा का भाव दिखाते हैं, वे मध्यम कोटि के भक्त है। जो भगवान को केवल मूर्ति में ही देखना चाहते हैं, वे साधारण कोटि के भक्त हैं।

पृथिवी वायुराकाशमापोऽग्निश्चन्द्रमा रविः।
कपोतोऽजगरः सिन्धुः पतङ्गो मधुकृद् गजः॥
मधुहा हरिणो मीनः पिङ्गला कुररोऽर्भकः।
कुमारी शरकृत् सर्प ऊर्णनाभिः सुपेशकृत्॥
एते मे गुरवो राजंश्चतुर्विंशतिराश्रिताः।
शिक्षा वृत्तिभिरेतेषामन्वशिक्षमिहात्मनः॥
११/७/३३-३५

– हे राजन् मैंने इन चौबीस गुरुओं का आश्रय लिया है और इन्हीं के आचरण से मैंने जगत् में व्यवहार की शिक्षा पाई है – पृथ्वी, वायु, आकाश, जल, अग्नि, चन्द्रमा, सूर्य, कबूतर, अजगर, समुद्र, पतंगा, मधुमक्खी, हथिनी, शहद निकालने वाला, हिरन, मछली, पिंगला गणिका, कुरर पक्षी, बालक, कुमारी, बाण बनानेवाला, साँप, मकड़ी और भृंगी कीट।

तदेव रम्यं रुचिरं नवं नवं
तदेव शश्वन्मनसो महोत्सवम्।
तदेव शोकार्णव-शोषणं नृणां
यदुत्तमः श्लोक-यशोऽनुगीयते॥१२/१२/४९

– जिस उत्तम वाणी के द्वारा प्रभु का यशोगान होता है; वही रमणीय, रुचिकर, नित्य-नवीन और मन का चिर महोत्सव है और वही मनुष्य के शोक-समुद्र को सुखानेवाला है।

भवे भवे यथा भक्तिः पादयोस्तव जायते।
तथा कुरुष्व देवेश नाथस्त्वं नो यतः प्रभो॥
नाम संकीर्तनं यस्य सर्वपाप-प्रणाशनम्।
प्रणामो दुःख-शमनं तं नमामि हरिं परम्॥
१२/१३/२२-२३

– हे देवों के देव, हे प्रभो, आप ही हमारे स्वामी हैं; कृपया ऐसा कीजिये कि हर जन्म में आपके चरणों में मेरी भक्ति बनी रहे। जिनके नाम-कीर्तन से सारे पाप मिट जाते हैं तथा जिन्हें प्रणाम करने से सारे दु:ख दूर हो जाते हैं, उन दु:खहारी परम पुरुष श्रीहरि को मैं प्रणाम करता हूँ।

❖ (समाप्त) ❖

आत्माराम के संस्मरण (१२)

स्वामी जपानन्द

(रामकृष्ण संघ के एक वरिष्ठ संन्यासी स्वामी जपानन्द जी (१८९८-१९७२) श्रीमाँ सारदादेवी के शिष्य थे। स्वामी ब्रह्मानन्दजी से उन्हें संन्यास-दीक्षा मिली थी। उन्होंने बँगला में कुछ रोचक संस्मरण लिपिबद्ध किये थे। उन्हीं का प्रकाशन हम क्रमशः कर रहे हैं। – सं.)

पुनः वृन्दावन में

संन्यासी लाहौर से फिर वृन्दावन लौट आया और सुरेन हरिद्वार-कनखल चला गया। उधर पूज्य शरत् महाराज के आदेश पर डॉक्टर महाराज भी (वृन्दावन) लौटे। संन्यासी ने वहाँ प्राणेश कुमार तथा चिन्ताहरण को खूब खरी-खोटी सुनाई। चिन्ताहरन अच्छे-अच्छे कम्बल, वस्त्र आदि पोटली बाँधकर ले आया था। उसका यह काम महिम बाबू भी जानते थे, परन्तु इसके लिये उन्होंने उसे कुछ भी नहीं कहा।

महिम बाबू उन दिनों इतने नर्वस थे कि उसकी कल्पना तक नहीं की जा सकती थी। वृन्दावन में एक दिन प्राणेश कुमार को खूब मलेरिया बुखार हुआ, जो १०५-६ डिग्री तक चढ़ा और उसे बेहोशी आ गयी। संन्यासी ने उन्हें किसी प्रकार सुलाया और यमुना का ठण्डा पानी उसके सिर पर ढालकर उसका बुखार कम करने का प्रयास करने लगा। (उन दिनों वृन्दावन में बरफ नहीं मिलता था, मथुरा से लाना पड़ता था)। उसी समय महिम बाबू 'प्राणेश', 'प्राणेश' – करते हुए वहाँ आ पहुँचे। उसे उस अवस्था में देखकर उनके मुख से निकला – "ऐं, इसे यह क्या हुआ? ऐं, प्राणेश तो कुछ बोल ही नहीं रहा है। ओ प्राणेश ! प्राणेश?"

वह तो बुखार में अचेत था, उत्तर कौन देता ! संन्यासी बोला – "आप कृपा करके कमरे में जाइये। उसे खूब बुखार हो जाने के कारण इस प्रकार चुपचाप पड़ा हुआ है। चिन्ता की कोई बात नहीं है। उसका सिर धो रहा हूँ, बुखार अभी कम हो जायेगा।" – "ऐं, मुझे कौन देखेगा? मेरा कौन करेगा? प्राणेश ! ओ प्राणेश !"

इसके बाद उन्होंने थरथराकर काँपना आरम्भ किया। तब चिन्ताहरन को कहने पर वह उन्हें उनके कमरे में पहुँचा आया। कमरे में पहुँचकर उनका काँपना इतना बढ़ गया कि बूढ़े बाबा (शिरीष महाराज) दो-तीन लोगों के साथ मिलकर भी उन्हें दबाकर नहीं रख सके। उन्हें भी खूब बुखार और डिलेरियम हो गया था। वही उनकी एक ही धुन चल रही थी – "क्या होगा? मेरे प्राणेश का क्या होगा? मुझे कौन देखेगा?" बस, यही।

शाम को चाय के समय बूढ़े बाबा आकर बोले – "भाई, चाय आज किसी से बनवा लो। मैं तो उन्हें सँभाल नहीं पा रहा हूँ। उसी प्रकार बड़बड़ाये जा रहे हैं।" प्राणेश उस समय निद्रामग्न थे। उनका बुखार कम हुआ था। डॉक्टर महाराज, संन्यासी तथा कालिकानन्द जी (केशवानन्द जी के शिष्य) ने बूढ़े बाबा के कमरे में जाकर महिम बाबू की वह अवस्था देखी। (महिम बाबू बूढ़े बाबा के कमरे में ही रहते थे)।

अब क्या उपाय किया जाय? कँपकँपी थोड़ी कम हुई थी, बुखार भी अधिक नहीं था, परन्तु प्रलाप वैसे ही चल रहा है ! बहुत कहा गया – "प्राणेश अभी सोये हैं। बुखार कम हुआ है। चिन्ता की कोई बात नहीं।" परन्तु उनके कानों पर जूँ तक नहीं रेंग रही थी। सारी रात इसी प्रकार बीती।

सुबह प्राणेश कुमार ज्वरमुक्त हो गये थे, परन्तु काफी दुर्बल थे। इसीलिये उन्हें उठने से मना किया गया था। डॉक्टर महाराज तथा संन्यासी ने चाय पीने जाकर देखा कि कालिकानन्द जी भी उपस्थित और चिन्तित हैं। महिम बाबू को चाय दी गयी, परन्तु उन्होंने थोड़ी-सी ही पी और कहने लगे – "परन्तु भाई, मेरा क्या होगा !" सिंपेथेटिक बुखार ऐसा भी हो सकता है, किसी को कल्पना तक न थी।

संन्यासी के मन में प्रयोग करके देखने का विचार आया। उसने डॉक्टर महाराज को शाक-ट्रीटमेंट करने को कहा, परन्तु वे राजी नहीं हुए। ये पूज्य व्यक्ति जो हैं ! तब बूढ़े बाबा तथा कालिकानन्द जी की अनुमति लेकर संन्यासी ने ही वह किया। बोला – "प्राणेश कुमार, प्राणेश कुमार, यह आपने क्या शुरू किया है? क्या किसी को बुखार नहीं होता? बचपने का हद कर दिया है ! ओह, प्राणेश कुमार, मानो चिर काल से आपकी देखभाल करता आया है ! मानो दुनिया में और कोई है ही नहीं ! चुपचाप सोये रहिये !" डाँट सुनकर उन्होंने एक बार संन्यासी की ओर देखा और कम्बल से मुख ढँककर सो गये ! चुपचाप, और कोई बात नहीं की !

सभी लोग चाय पीने के बाद प्रतीक्षा करने लगे कि यदि फिर प्रलाप शुरू करें। खर्राटे की आवाज सुनकर पता चला कि नींद आ गयी है। डॉक्टर महाराज बोले – "Too much bitter pills for him. – इतनी कड़वी गोलियाँ खिलायीं।"

शाम को चाय के समय जाकर देखा – अच्छे ही थे, बुखार नहीं था। संन्यासी – "कैसे हैं? थोड़ा कुछ खाया है या नहीं?" इस पर वे थोड़े अभिमान के सुर में बोले – "तुमने मुझे इस प्रकार कहा?"

संन्यासी – "क्षमा माँगता हूँ। जिस उद्देश्य से कहा था, वह तो सफल हो गया है। इसे मन में मत रखियेगा।"

बूढ़े बाबा बोले – "तुम्हारे वैसा बोलकर चले जाने पर इन्हें खूब पसीना निकला और बाद में बुखार उतर गया था।"

वृन्दावन के बाद महिम बाबू के साथ एक बार और भेंट हुई थी – कोलकाता में हेदुआ के किनारे। संन्यासी उस समय पूज्य स्वामी अभेदानन्द जी के आश्रम का नया भवन देखने जा रहा था। वे उस समय हेदुआ (कार्नवालिस स्क्वेयर) के किनारे ले आये हैं। संन्यासी को देखते ही उन्होंने रोना आरम्भ कर दिया। दौड़कर निकट जाकर पूछने पर पता चला कि पूज्य अभेदानन्द जी ने उनसे कहा है – "शरीर में जो श्वेत कुष्ठ हुआ है, वह महापाप करने से होता है – ऐसा पुराणों में लिखा है।" बस, रोते हुए घर जा रहे थे – संन्यासी को देखकर जोर की रुलाई आ गयी।

तब बाध्य होकर वह उन्हें समझाकर बोला – "पेचिस भी तो अमुक पाप के कारण होता है और कैंसर भी तो महापाप के कारण होता है। आप भी ऐसे हैं कि जैसा उन्होंने कहा तुरन्त मान लिया। घर चलिये।" तब वे थोड़े आश्वस्त हुए। संन्यासी का हाथ पकड़कर वे उसे घर ले गये। और खाने को मुरमुरे देकर बहुत -सी बातें करने लगे।

उनसे अन्तिम भेंट सम्भवत: श्रीमाँ की शताब्दी (१९५३) के समय दो मिनट के लिये उनके घर में ही हुई थी। उन दिनों वे अस्वस्थ थे। भवतारण महाराज संन्यासी को गाड़ी में उनसे मिलाने ले गये थे।

ऋषीकेश की घटना (१९२०-१)

संन्यासी उन दिनों ऋषीकेश में था। लाटू महाराज (स्वामी अद्भुतानन्द) के एक सेवक स्वामी सिद्धानन्द भी थे। दोनों ने निश्चय किया कि अलग-अलग झोपड़ी बना कर रहेंगे। सिद्धानन्दजी जिस खजांची के मकान में रहते थे, उसके व्यवस्थापक के साथ उनकी प्राय: ही खटपट होती। उस मकान के पास ही जंगल में भरत-मन्दिर के महन्त की अनुमति लेकर दो कुटियाँ बनायी गयीं। खर्च ६०-७० रुपये आया था और अधिकांश रुपयों की सिद्धानन्दजी ने ही व्यवस्था कर दी थी।

खूब बड़ी-बड़ी दो फूस की कुटियाँ ! इसे बनाने में स्वयं ईश्वर गिरिजी ने शारीरिक श्रम के द्वारा खूब सहायता की थी। वे अति विनयी, त्यागी और परोपकारी साधु थे। मेरी सलाह पर कुटिया में चन्द्रभागा से छोटे-छोटे सुड़ौल पत्थर लाये गये और एक फुट भरकर बिछा दिया गया। वह स्वच्छ फर्श का काम देता था। उसी के ऊपर कम्बल बिछाकर सोया जाता और बड़े आराम से बैठा भी जाता। उन पत्थरों में से अधिकांश ईश्वर गिरीजी ही लाये थे और कुछ-कुछ रामानन्द नाम के एक दक्षिणी लाये थे। (ये बाद में दण्डी संन्यासी हुए और काशी के एक प्रसिद्ध दण्डी के शिष्य हुए)।

इसके बाद देखा गया कि दीमक निकल रहे हैं और चीटियाँ भी बिस्तर पर चढ़कर काट रही हैं। अब क्या किया जाय? सिद्धानन्द जी ने उस खजांची के मकान से एक चारपाई की व्यवस्था कर ली। संन्यासी को वैसा करने की इच्छा न थी, अत: एक ऊँचा मचान बनाने का निश्चय किया गया। उसके लिये बाँस या बल्लियों की जरूरत थी। स्वयं ईश्वर गिरिजी ने उसका भार लिया। वे जंगल में जा-जाकर सब जुटाकर ले आये और खूब मजबूत मचान बनाकर उसके ऊपर फूस की गद्दी बना दी। संन्यासी के पास उस समय केवल एक कम्बल मात्र ही था। उसके भीतर कपड़ा लगा हुआ था और बीच में सिर डालकर पहनने की व्यवस्था थी। उसे पहनने पर कुर्ते का काम हो जाता। अन्य कोई वस्त्र आदि उस समय नहीं था। कौपीन भी फट गया था, उसे देखकर ईश्वर गिरिजी ने कौपीन बनाने के लिये नये कपड़े का एक टुकड़ा दिया। काली-कमली-वालों से माँगने पर कौपीन का कपड़ा मिलता था, पर संन्यासी का न माँगने का मनोभाव था। अयाचित भाव से जो आ जाय, उसी के द्वारा वह अपनी यह अयाचक वृत्ति चलाता था, इसीलिये माँगने नहीं गया। कुटिया में केवल कौपीन मात्र पहनकर रहता था। भिक्षा के समय कम्बल को लपेट लेता और रात को सोते समय उसका आधा बिछाकर आधा ओढ़ लेता। बड़े मजे में था – **कौपीनवन्तः खलु भाग्यवन्तः**।

कुछ दिनों बाद लाटू बाबा के बुलाने पर सिद्धानन्द जी वाराणसी चले गये। उस समय उनका स्वास्थ्य काफी खराब हो गया था। संन्यासी भी कुछ दिनों बाद राजा महाराज (स्वामी ब्रह्मानन्द जी) के बुलाने पर गया। वहाँ उन्होंने विधिवत् संन्यास दी। उसके बाद वे (महाराज) मद्रास जाने के लिये बेलूड़ मठ लौटे। (वही उनकी अन्तिम बार काशी-यात्रा थी)। संन्यासी उनकी अनुमति लेकर नर्मदा तट पर तपस्या करने गया।

उस समय उस कुटिया में थे रामानन्द और उनके गुरुभाई। ये आसाम (सिलचर) स्थित अरुणाचल के दयानन्द के शिष्य थे। जेल से छूटकर ये सीधे ऋषीकेश आये। स्थान नहीं मिल रहा था और काली-कमलीवालों के यहाँ से रोटियों की भिक्षा भी नहीं मिल रही थी, क्योंकि वे लोग इन्हें सम्प्रदाय के साधु ही नहीं मानते थे। किसी ने संन्यासी से मिला दिया। उसकी चेष्टा से दाल-रोटी की भिक्षा का प्रबन्ध हो गया और अपनी कुटिया के आधे भाग को पार्टिशन करके उन्हें इस शर्त पर दिया कि जब तक वे लोग अपनी कुटिया नहीं बना लेते, तब तक उसी में रहेंगे। बाद में उन लोगों ने कुटिया बना ली थी और उसी कुटिया में महापुरुष महाराज (स्वामी शिवानन्द) के दीक्षित शिष्य पण्डित जी तथा मिशन के एक नये ब्रह्मचारी तपस्या कर रहे थे। उसके बाद गंगा में भयंकर बाढ़ आयी, जिसमें छोटी तथा बड़ी पौड़ी के करीब डेढ़ सौ साधुओं की जानें गयी थीं। उसमें मिशन के भी इन दो साधुओं का देहान्त हुआ। अब उसी विषय पर आता हूँ –

ऋषीकेश की भयंकर बाढ़

उस बाढ़ के बाद १९२७ ई. में हरिद्वार में जो कुम्भ मेला हुआ था, संन्यासी उसमें उपस्थित था। मेले के आखिरी दिनों में वह ऋषीकेश गया – ईश्वर गिरिजी के साथ भेंट करने और उनसे बाढ़ का सारा विवरण सुनने। उस समय वे वहीं पर थे और खजांची के मकान तथा गंगा माई के सत्र के निकट जो विशाल वटवृक्ष था (छोटी झाड़ी), उन्हीं के बीच दोनों कुटियाँ थीं। बाढ़ का पानी झाड़ी में प्रवेश करने पर उसके ऊपर साधु सदानन्द (जिन्हें सभी लोग 'योगिराज' कहा करते थे, सिर पर विशाल जटा थी, इनका भी संन्यासी के प्रति बड़ा लगाव था) और ईश्वरगिरि जी दो अन्य साधुओं को लेकर चढ़े। उन्होंने मिशन के दोनों साधुओं को भी बुलाया, परन्तु पण्डितजी तथा ब्रह्मचारी – निश्चित मृत्यु देखकर इसके लिये राजी नहीं हुए। वे लोग कुटिया का द्वार बन्द करके जप-ध्यान तथा प्रार्थना करने बैठ गये। बड़ी झाड़ी को तब तक गंगा खींचकर ले जा चुकी थी। चन्द्रभागा में भीषण वेग से जल-प्रवाह चल रहा था। भागने या बचने का कोई उपाय न होने के कारण साधु लोग उसी वटवृक्ष पर चढ़ गये थे – ईश्वर गिरिजी ने संन्यासी को बताया। परन्तु जल के भीषण प्रवाह से वह वटवृक्ष हिलते-डुलते हुए जड़ से उखड़कर धारा में जा पड़ा और गंगाजी के स्रोत में उलटते-पलटते बह चला। (गंगा उस समय इतनी क्षिप्रवाहिनी हो गयी थीं कि वटवृक्ष के पास का एक कुँए का २०-२५ हाथ मिट्टी तथा बालू को खींचकर उसके निचले तल को बाहर कर दिया था। संन्यासी ने उसे देखा।) उन लोगों ने बड़े जोरों से डाल को पकड़ रखा था, परन्तु बर्फीले पानी के भीतर उस प्रकार ऊपर-नीचे डूबते-उतराते वे लोग बेहोश हो गये। हाथ कब छूट गया, इसका भी उन्हें पता नहीं चला।

जब होश आया, तो देखा कि वीरभद्र के पास केवल ५-६ साधु आग जलाकर सेंक रहे हैं। (वीरभद्र गंगा के किनारे ऋषीकेश से ढाई-तीन मील दूरी पर स्थित था)। होश आने पर वे लोग आश्रम में ले गये और कुछ दिन वे उन लोगों के पास ही रहे। बाद में वे पुन: ऋषीकेश में आये और अन्यत्र स्थापित नयी झाड़ी में कुटिया बनाई।

सदानन्द का सड़ा हुआ शरीर वीरभद्र के उस पार (दूसरी ओर) बबूल के घने जंगल के बीच पेड़ के ऊपर उसके काँटों से विद्ध अवस्था में प्राप्त हुआ।

उस बाढ़ में झाड़ीवासी केवल पाँच साधु ही बच सके थे। उनमें से ईश्वर गिरिजी एक थे। इन प्रेमिक साधु का दर्शन करके संन्यासी ने स्वयं को धन्य माना।

* * * * * * * *

अरुणाचल के दयानन्द स्वामी तथा उनके सभी साधु-शिष्यों को पुलिस ने पकड़कर जेल में भर दिया था। उनके हर शिष्य की धारणा थी कि वे लोग वहीं दिन-रात कीर्तन – 'प्राणेश्वर नित्यानन्द' की धुन गा-गाकर प्रथम विश्वयुद्ध को रोकने में सफल होंगे। वे भी सहमत हुए। उन्होंने फ्रांस जाने की चेष्टा भी की थी, पर अनुमति नहीं मिली। फ्रांस के राष्ट्रपति तथा (अमेरिका के) राष्ट्रपति विलसन के उन समुद्री तारों की प्रतिलिपि की पुस्तिका को संन्यासी ने देखा था। उसमें सर्वाधिक शिक्षाप्रद बात थी – लोकतंत्र का वास्तविक स्वरूप। वे लोग इतने व्यस्त थे, तो भी उन लोगों ने बड़ी भद्र भाषा में समुद्री तारों के उत्तर दिये थे। (हमारे देश में जो लोग 'लोकतंत्र, लोकतंत्र' कहा करते हैं, वे अपने-अपने सीने पर हाथ रखकर बतायें कि यह लोकतांत्रिक भाव उन लोगों में कितना है? मेरा विश्वास है कि वे उसे पागलपन कहकर उनका उत्तर ही नहीं देते और उन तारों को रद्दी की टोकरी में फेंक देते।) इन लोगों ने इस आशय का तार भेजा था कि ये लोग सीमा पर जाकर, युद्ध-क्षेत्र में जाकर भगवन्नाम-कीर्तन करके युद्ध को रोकने तथा शान्ति स्थापित कर सकेंगे। एक महीना बीत गया, तो भी जाने की अनुमति न मिलने पर अरुणाचल (सिलचर) में ही कीर्तन शुरू किया, इस विश्वास के साथ कि इससे एक महान् शक्ति प्रकट होगी और युद्ध को रोककर दुनिया में शान्ति स्थापित कर देगी।

शोभायात्रा के समय, एक छोटा-सा सात-आठ वर्ष का बालक भी घर से भागकर कीर्तन में सम्मिलित हुआ था। उसके पिता तथा सगे-सम्बन्धी उसे लेने के लिये आने पर भी व्यवस्थापकों ने यह कहकर उसे नहीं ले जाने दिया कि बालक अत्यन्त शुद्धचित्त है और सम्भव है कि भगवान उसी के माध्यम से वांछित शक्ति को प्रकट करेंगे।

नाचने-कूदने से बालक के थककर बारम्बार बेहोश हो जाने पर भी उसके पिता को यह कहकर नहीं ले जाने दिया कि वह भाव-समाधि हो रही है, महाशक्ति के प्रविष्ट होने की तैयारी चल रही है। उसके माध्यम से समाज का विशेष हित होगा, आदि। परन्तु बालक की मृत्यु हो गयी या अत्यन्त मरणासन्न हालत हो गयी। इसलिये उसके पिता ने कलेक्टर से बच्चे को वापस पाने के लिये आवेदन किया। कलेक्टर ने आदेश जारी किया। और भी अनेक लोगों की शिकायतें थीं – कोई अपनी पत्नी को, तो कोई अपनी कन्या को वापस नहीं ला पा रहे हैं। उन लोगों ने कीर्तन में उन्मत्त होकर घर छोड़ दिया था। कलेक्टर के आदेश को नहीं माना गया। तब उन्होंने कुछ गुरखा सिपाहियों को भेजकर पाण्डाल आदि तुड़वा दिया और लोगों पर मार भी पड़ी। महिलाओं को भी पीटा गया, क्योंकि वे इसका विरोध कर रही थीं और दयानन्दजी को शिष्यों के साथ कैद करके सिलचर ले गये। कुछ दिनों बाद सबको छोड़ दिया गया। उस समय उनके दो शिष्य – रामानन्द तथा उनके गुरुभाई ऋषीकेश आये और वे

स्वयं वैद्यनाथ धाम चले गये और वहाँ आश्रम की स्थापना करके अपना बाकी जीवन वहीं बिताया।

इसी प्रकार की एक घटना और भी याद आ रही है। उक्त रामानन्द जी ने संन्यासी से खूब आग्रहपूर्वक कहा कि वे उनके वयोज्येष्ठ गुरुभाई का दर्शन अवश्य करें। संन्यासी ने उन्हें वचन दिया कि सुयोग हुआ तो अवश्य भेंट करेगा।

बेलूड़ मठ के प्रथम महा-सम्मेलन (१९२६ ई.) के बाद संन्यासी ग्रीष्मकाल बिताने के लिये कर्सियांग गया। वहाँ से लौटते समय सैयदपुर गया। वहाँ कुछ दिन बिताने के बाद दिनाजपुर मठ के तत्कालीन महन्त के आग्रहपूर्ण निमंत्रण पर दिनाजपुर गया। वहाँ सुनने में आया कि स्वामी दयानन्द के प्रधान शिष्य एक विशाल आश्रम बनाकर वहीं रहते हैं। याद आया कि उनसे मिलने का वचन दिया है। उसकी व्यवस्था करके रामकृष्ण आश्रम के महन्त को साथ लेकर एक निश्चित दिन उनके साथ साक्षात् परिचय करने गया। अपराह्न में लगभग तीन बजे गया था। समाचार देने को कहने पर प्रतीक्षा करने को कहा गया। संन्यासी को एक बड़ी-सी झोपड़ी में बैठाया गया, जिसमें मन्दिर था और उस मन्दिर-कक्ष के सामने सीमेंट से बना एक सँकरा बरामदा था – दो हाथ या उससे थोड़ा अधिक चौड़ा होगा। भीतर सब मिट्टी का था। पीतल की एक अष्टभुजा देवी की मूर्ति थी। और भी क्या-क्या था। मूर्ति का श्रीमुख अपूर्व कमनीय प्रभायुक्त था।

वर्षा का मौसम था। बड़ी उमस थी। पसीने के कारण बेचैनी लग रही थी। करीब घण्टे भर बाद हाथ में एक हाथ-पंखा लिये, कच्छा (सिक्खों के समान) पहने, बड़े-बड़े नेत्र, गोल-मटोल शरीर, लड़खड़ाते हुए आकर संन्यासी के पास ही बैठ गये और बोले (साथ में ८-१० भक्त शिष्य थे, जो दिनाजपुर के विशिष्ट लोग थे) – "इन्हीं लोगों के साथ बातें करते-करते देरी हो गयी।" फिर बोले – "आपके बारे में ऋषीकेश से रामानन्द ने सूचित किया था। आपने उसकी बड़ी सहायता की थी।" इसके बाद अपने शिष्यों से कहने लगे – "बारीसाल के एक गाँव में गया था। वहाँ गगनभेदी ध्वनि में खूब कीर्तन चल रहा था। गाँव के हिन्दू-मुसलमान सभी उसमें जुट गये थे। दूसरे गाँव जाते समय मुसलमान लोग भी बहुत दूर तक साथ-साथ गये थे। अरे, एक साँप भी उसके साथ-साथ चल रहा था। उन्होंने मारने से मना किया। साँप रास्ते के एक किनारे से होकर चल रहा था।"

– "इनकी अपार महिमा है। आज तक जितने अवतार हुए हैं, उनके (दयानन्द) सामने कुछ भी नहीं हैं। इनका व्यक्तित्व सबसे महान् हैं, विराट् है। (जोर देकर कहा गया) ये सर्वश्रेष्ठ अवतार हैं। इसके बाद संन्यासी की ओर उन्मुख होकर – "आपको मानना ही होगा कि ये श्रेष्ठ अवतार हैं।"

संन्यासी बड़े संकट में पड़ा। बोला – "अवतार तो पता नहीं। कभी दर्शन नहीं हुआ। ऐसा कहने में असमर्थ हूँ।"

– "नहीं, मैं कहता हूँ, आपको बोलना ही होगा कि ये श्रेष्ठ अवतार हैं।" संन्यासी – "आपके कहने से ही तो माना नहीं जा सकता। श्रद्धा हो तो कहा जा सकता है।"

– "नहीं, आपको निश्चित रूप से मानना पड़ेगा कि ये श्रेष्ठ अवतार हैं।" संन्यासी – "बलपूर्वक नहीं मनवा सकते। श्रद्धा हो तो मानना सम्भव है, अन्यथा नहीं।"

तब वे थर-थर काँपने लगे और दाहिने हाथ की तर्जनी से इंगित करते हुए (संन्यासी के दोनों भौहों की ओर इशारा करते हुए) काँपते हुए एक बार उठते और फिर बैठ जाते। इसी प्रकार करीब ५-७ मिनट करके धप से मिट्टी के लौंदे के समान बैठ गये। शक्ति क्षय हो जाने के कारण खूब थक गये थे। पूरे बेहोश हो गये और यह देखकर संन्यासी ने उनके एक निकटस्थ शिष्य को सिर तथा मुख पर पानी डालने को कहा। १०-१२ मिनट तो उनकी बाह्य संज्ञा ही नहीं लौटी। उनकी वह हालत देखकर उपस्थित शिष्य-मण्डली भी काँप रही थी और संन्यासी के आश्रमस्थ मित्र की भी वही दशा थी। जगदम्बा की कृपा से संन्यासी को कुछ भी नहीं हुआ। यह उनके द्वारा सम्मोहित करने का प्रयास था।

थोड़ा स्वस्थ होते ही – "मेरे भाई !" कहकर संन्यासी का आलिंगन करने आगे बढ़े, परन्तु संन्यासी खिसक कर बैठा और बोला – "लगता है इसी प्रकार चेला बनाया जाता है ! सभी लोगों के साथ क्या यह विद्या काम आ सकती है? क्या बलपूर्वक 'अवतार' मनवाया जाता है? दुबारा कभी ऐसा मत कीजियेगा।" संन्यासी यह कहकर उठ पड़ा।

जब दोनों भौहों के बीच अंगुली से इंगित करते हुए उठक -बैठक कर रहे थे, उस समय भी संन्यासी के मन में थोड़ी आशंका हुई थी कि यदि आँख में अंगुली घुसा दें, तो आँख ही फूट जायेगी। और उसके लिये बड़ी कठिनाई हो जायेगी। उसके बाद जब 'मेरे भाई !" कहकर संन्यासी को आलिंगन करने बढ़े, तो मन में आया कि न जाने क्या कर बैठें !

आश्रम का मित्र तो चकित होकर मूढ़वत् बैठा था, उसे पकड़कर उठाया।

– "फिर आइयेगा, ठीक से बात नहीं हो सकी। रामानन्द ने आपकी प्रशंसा की थी, देखता हूँ वह ठीक ही था।"

संन्यासी – "और समय नहीं है।"

उस दिन पूरे शहर में उसी घटना की चर्चा होती रही। संन्यासी आश्रम में लौटकर अपने कमरे में घुस गया और आश्रमवासियों से कह दिया कि किसी को भी उनके पास न आने दिया जाय। रात होने तक बहुत-से लोग पूछने और जानने आये कि क्या घटना हुई थी। संन्यासी अगले दिन सबेरे की गाड़ी से ही कोलकाता के लिये रवाना हो गया।

❖ (क्रमशः) ❖

चरित्र ही विजयी होता है (५)

स्वामी सत्यरूपानन्द

(प्रतिवर्ष की भाँति २००५ में भी रामकृष्ण मिशन विवेकानन्द आश्रम, रायपुर के सचिव स्वामी सत्यरूपानन्द जी महाराज ने 'सन्त गजानन अभियांत्रिकी महाविद्यालय, शेगाँव (महाराष्ट्र)' के अनुरोध पर विद्यार्थियों के लिये 'व्यक्तित्व-विकास एवं चरित्र-निर्माण' पर कार्यशाला का संचालन किया था। उनके इस महत्वपूर्ण व्याख्यान को उपरोक्त संस्थान ने 'Character Wins' नामक पुस्तक के रूप में प्रकाशित किया। सबकी उपयोगिता की दृष्टि से उसे 'चरित्र ही विजयी होता है' इस शीर्षक से हम 'विवेक ज्योति' में प्रकाशित कर रहे हैं। इसका हिन्दी अनुवाद और सम्पादन रायपुर आश्रम के ही स्वामी प्रपत्त्यानन्द जी ने किया है। – सं.)

इसी प्रकार एक दृढ़ चरित्रवान व्यक्ति के द्वारा ही दूसरा व्यक्ति प्रेरणा प्राप्त कर सकता है और अपना चरित्र-निर्माण करने का प्रयास कर सकता है। इस प्रकार हम पाते हैं कि चरित्र-निर्माण करने का सबसे अच्छा उपाय है – दृढ़ और चरित्रवान व्यक्तियों का संग करना।

जब किसी व्यक्ति को उच्च तथा महान् चरित्रवान महापुरुष का सान्निध्य प्राप्त करने का सौभाग्य न मिले, तब उसके लिये दूसरा सबसे अच्छा उपाय है – महान चरित्रवान महापुरुषों के जीवन-चरित्रों एवं उपदेशों का अध्ययन करना और उनके जीवन में उन सद्गुणों को खोजना जिससे वे चरित्रवान हुये थे तथा उसके बाद यथासाध्य उन सद्गुणों को अपने जीवन में उतारने का सतत् प्रयास करना।

इसके लिये, सर्वप्रथम किसी महान चरित्रवान व्यक्ति को अपना आदर्श स्वीकार करना चाहिये। उसके बाद अपने स्वीकृत आदर्श के महान जीवन-चरित्र के बारे में अधिक-से-अधिक जानने का प्रयत्न करना चाहिये। उनके चरित्र के महान् गुणों को जान लेने के बाद, उन गुणों का बार-बार चिन्तन करना चाहिये, उन पर ध्यान करना चाहिये। ऐसा करने से वे गुण अध्येता की बुद्धि और हृदय में समाहित हो जाते हैं। उन गुणों के निरन्तर चिन्तन और उनकी कल्पना से वे गुण उसके व्यक्तित्व में समाहित हो जाते हैं तथा उसके चरित्र तथा व्यवहार के द्वारा अभिव्यक्त होते हैं एवं समय आने पर वह एक चरित्रवान पुरुष के रूप में परिणत हो जाता है। इस प्रकार व्यक्ति सच्चरित्र का विकास करता है और चरित्रवान बन जाता है।

यहाँ हमें एक बात याद रखनी चाहिये कि अपने चरित्र के निर्माण के लिये स्वयं की सहायता सबसे अच्छी सहायता है। दूसरे हमें केवल कुछ संकेत दे सकते हैं तथा कुछ दूर तक मार्ग-दर्शन कर सकते हैं, किन्तु हमें उन गुणों को अपने जीवन में आत्मसात् तथा समाहित करने के लिये स्वयं ही कठोर परिश्रम तथा पुरुषार्थ करना होगा। हम कह सकते हैं कि व्यक्ति के अपने चरित्र के निर्माण हेतु स्वयं की सहायता ही एकमात्र सहायता है। यह ठीक वैसे ही है, जैसे कोई व्यक्ति अपनी बीमारी को जानता है और उसका उपचार, उसकी औषधि भी जानता है। अब उसे औषधि स्वयं ही खानी है। केवल तभी वह रोगमुक्त हो सकेगा।

हमारा सौभाग्य है कि भारत माता धर्म और दर्शन की भूमि है। यही भारत माता नैतिक पूर्णता और आध्यात्मिकता की भूमि है। भारत के इतिहास में साधु-संतों, चरित्रवान व्यक्तियों और सदाचारियों की कभी कमी नहीं रही।

भारत माता सन्त-महात्माओं की भूमि है, यह त्यागी और वीर पुरुषों की भूमि है। जीवन के प्रत्येक क्षेत्र में अपने चयनित लक्ष्य के लिये हम चरित्रवान और आदर्शवान महापुरुषों को प्राप्त कर सकते हैं। ऐसे चरित्रवान व्यक्ति को अपने आदर्श के रूप में चयन कर, उनके पद चिन्हों पर चलकर हम अपना चरित्र-निर्माण कर सकते हैं।

१९. त्याग

चरित्र-निर्माण के दो मार्ग हैं – निवृत्ति और प्रवृत्ति। सर्वप्रथम व्यक्ति को अन्तर्निरीक्षण और आत्मविश्लेषण के द्वारा यह जान लेना चाहिये कि उसमें कौन से नकारात्मक दुर्गुण हैं, जो उसके चरित्र को नष्ट कर रहे हैं या उसके चरित्र-निर्माण के पथ में बाधक हो रहे हैं। अपने व्यक्तित्व के दोष और दुर्बलताओं को जानकर, हमें उन अवगुणों का एक-एक कर उन्मूलन करना चाहिये, साथ-ही-साथ वर्तमान में हमारे चरित्र और आचरण में कौन-कौन से सद्गुण हैं, उन्हें जानने का प्रयास करना चाहिये। उन सद्गुणों को जानने के बाद उपरोक्त बताये गये पद्धति के द्वारा उन्हें सबल एवं सुदृढ़ करने का प्रयत्न भी करना चाहिये।

सभी देश और काल में चरित्रवान महापुरुषों के द्वारा चेतावनी दी गयी है कि कोई भी सांसारिक आदर्श या कोई भी चारित्रिक आदर्श जो स्वार्थी और भोग-परायण है, जो कहता है – 'इन्द्रिय-सुख की प्राप्ति ही मानव का सर्वोच्च लक्ष्य है', ऐसा सिद्धान्त दृढ़ और सच्चरित्र बनाने का आदर्श कभी भी नहीं हो सकता। जो चरित्रवान और सदाचारी बनना चाहता है, उसे केवल त्याग और पवित्र व्यक्ति को ही अपने जीवन के आदर्श के रूप में स्वीकार करना चाहिये। दूसरे शब्दों में एक आध्यात्मिक पुरुष को ही अपने जीवन का आदर्श स्वीकार करना चाहिये।

२०. ज्ञान की पिपासा

उच्च चरित्र का एक महत्वपूर्ण उपादान है 'ज्ञान की पिपासा'। जो व्यक्ति उच्च चरित्र का विकास करना चाहता है, उसे सांसारिक और आध्यात्मिक ज्ञान-प्राप्ति की आदत को विकसित करना चाहिये। मुण्डक उपनिषद कहता है कि – **द्वे विद्ये वेदितव्ये परा अपरा च** – दो विद्याओं को जानना चाहिये 'परा' और 'अपरा' अर्थात् आध्यात्मिक और भौतिक ज्ञान की प्राप्ति।

ज्ञान के द्वारा ही महान और उच्च विचार हमारे मन में आते हैं तथा यह भी एक सुप्रतिष्ठित सिद्धान्त है कि उच्च सद्विचार ही व्यक्ति के मन को निम्न सांसारिक सुखों से उच्च आध्यात्मिक ज्ञान की ओर उठाने की प्रेरणा देते हैं। उसी प्रकार इन्द्रिय सुख-भोगों का विचार मन को पशु के स्तर पर ला देता है। जैसे कि कहावत है – "ज्ञान ही शक्ति है।" लेकिन हमें सदा यह स्मरण रखना होगा कि यद्यपि ज्ञान शक्ति है तथापि ज्ञान-प्राप्तिकर्त्ता को ज्ञान के उपयोग और विवेकपूर्वक नियन्त्रण हेतु उससे भी अधिक शक्तिशाली होना चाहिये। यदि ज्ञान की शक्ति सुनियंत्रित और सुसंयमित चरित्रवान व्यक्ति के हाथों में नहीं होगी, तो यह हिटलर, मुसोलिनी, इदी अमीन और अन्य अत्याचारी शासकों को ही उत्पन्न करेगी।

२१. विवेक

हमलोगों ने ज्ञान की दो विधाओं पर चर्चा की है। दूसरा महत्वपूर्ण पक्ष है, जो सभी उच्च चरित्रवान व्यक्तियों में होता है, वह है 'विवेक'। हिन्दू दर्शन में इसे 'विवेक' कहते हैं। जब ज्ञान विवेक के साथ संयुक्त होता है, तभी वह ज्ञान कल्याणकारी और परोपकारी-शक्ति बनता है। केवल यह मंगलकारिणी शक्ति ही मानवता का कल्याण कर सकती है।

जब ज्ञान विवेक से विच्छिन्न हो जाता है, चाहे हम इसे जाने या न जाने, चाहे हम इसे पसन्द करें या न करें, तब यह रक्त-पिपासू होकर डाकुओं, अत्याचारी शासकों आदि के हाथों में पड़कर, पृथ्वी को मानव-रक्त से सिंचित कर विनाश का कारण बन जाता है। इसलिये हमें केवल भौतिक ज्ञान की प्राप्ति में बहुत ही सावधान रहना चाहिये तथा साथ-ही-साथ विवेक भी जाग्रत रखने का प्रयास करना चाहिये। यदि विश्व के नेता चरित्रवान और विवेकी नहीं होंगे, तो हीरोशिमा और नागाशाकी के महासंहार की हजारों बार पुनरावृत्ति को कोई रोक नहीं सकता। यदि उच्च चरित्र-निर्माण की प्रक्रिया को गम्भीरता से नहीं लिया गया, यदि वर्तमान पीढ़ी को उच्च पवित्र और शुद्ध जीवन-यापन तथा उनके चरित्र-निर्माण के लिये प्रेरित नहीं किया गया, तो आने वाले १०० वर्षों में ही मानव-सभ्यता-संस्कृति का वैश्विक विध्वंश हो जायेगा, जिस सभ्यता और संस्कृति को विकसित होने में हजारों वर्ष लगे थे, वह कुछ ही दिनों में नष्ट हो जायेगा, कुछ ही दिनों में नहीं, बल्कि कुछ ही घण्टों में विनष्ट हो जायेगा।

विवेक स्वत: ही विकसित नहीं होता है। किसी भी प्रकार के विद्या या ज्ञान को प्राप्त करने के लिये व्यक्ति को एड़ी-चोटी का पसीना एक करना होता है। हम सभी जानते हैं कि ज्ञान की प्राप्ति हेतु व्यक्ति को यह कठिन मूल्य चुकाना पड़ता है। ठीक वैसे ही विवेक की प्राप्ति हेतु तथा इसे अपने चरित्र का अभिन्न अंग बनाने के लिये भी हमें कमरतोड़ कठिन परिश्रम करना पड़ेगा।

विवेक का विकास सत्य और असत्य के तथा नित्य और अनित्य के विचार के अभ्यास से होता है। इस गुण को विकसित करने के लिये व्यक्ति को सुव्यवस्थित चिन्तन और सुतर्क की आदत को विकसित करना चाहिये। व्यक्ति में अच्छे-बुरे एवं शुद्ध-अशुद्ध में भेद करने की क्षमता होनी चाहिये। जैसाकि हम जानते हैं कि पवित्रता तथा शुभतत्त्व ही वह आधार है, जिस पर उच्च चरित्र का भवन निर्मित होता है। बुद्ध, तीर्थंकर, महावीर समर्थ रामदास, राजा शिवाजी और आधुनिक युग में भगवान श्रीरामकृष्ण, श्रीमाँ सारदा देवी, युगाचार्य स्वामी विवेकानन्द और उनके गुरुभ्राता गण इस सिद्धान्त के ज्वलन्त दृष्टान्त थे कि जब ज्ञान महान् विवेक के साथ संयुक्त होता है, तब वह मनुष्य को दिव्य बना देता है। मनुष्य की दिव्यता जो उसके हृदय में अन्तर्निहित है, उसे अभिव्यक्त करने के लिये यह शर्त अनिवार्य है।

२२. क्षणभंगुर संसार

किसी व्यक्ति में विवेक का उदय हो रहा है, इसका लक्षण है कि वह यह समझता है कि यह संसार क्षणभंगुर है, दो दिनों का है। यदि आज नहीं तो कल यह समाप्त होगा ही। इस क्षणभंगुर संसार में वर्षों का कोई विशेष महत्व नहीं है। भले ही वर्ष सुदीर्घ लगें, किन्तु एक दिन अवश्य आयेगा, जब यह सब कुछ नष्ट हो जायेगा। विवेकी व्यक्ति कभी-भी अपने मन को अनित्य, परिवर्तनशील वस्तुओं में आसक्त नहीं करता। प्रेम नहीं करता, क्योंकि वह जानता है कि एक समय आयेगा, जब या तो वस्तु ही नष्ट हो जायेगी, या व्यक्ति स्वंय मर जायेगा और सब कुछ समाप्त हो जायेगा।

२३. शाश्वत अस्तित्व

विवेकी व्यक्ति यह भी समझता है कि इस परिवर्तनशील अस्तित्व तथा भौतिक जगत के पीछे एक तत्त्व विद्यमान है, जो शाश्वत अनादि और अनन्त है। यह शाश्वत सत्ता आकाश को मिलाकर और सभी वस्तुओं के पीछे विद्यमान है। यह हमारे जीवन, अस्तित्व और व्यक्तित्व का आधार है। यह

उत्तम व्यक्ति के चरित्र का अद्भुत अजेय शक्ति का स्रोत है। यह अनन्त शक्ति का भण्डार है। इस संसार की सभी उर्जा और शक्तियाँ इस मूल ऊर्जा शक्ति के शाश्वत श्रोत से संयुक्त हैं। एक महान् चरित्रवान व्यक्ति मानो स्वयं को इस आदि शक्ति के श्रोत से संयुक्त कर लेता है।

अतएव वह स्वयं ही शाश्वत हो जाता है। उसका शरीर भले ही नष्ट हो जाय, लेकिन उसका महान् चरित्र सदैव विद्यमान रहता है। यद्यपि सामान्य परिस्थितियों में साधारण व्यक्ति अपने इस महान् अस्तित्व के विषय में नहीं जानता।

२४. चरित्र कैसे अजेय बनता है?

शाश्वत शक्ति के स्रोत से अनन्त उर्जा तथा शक्ति ग्रहण करने के लिये उच्च चरित्रवान व्यक्ति अपने चित्त की शुद्धि करता है। इतना ही नहीं, वह अपने सम्पूर्ण व्यक्तित्व को शुद्ध और पवित्र कर इस अनन्त ऊर्जा और शक्ति के स्रोत का अच्छा वाहक बन जाता है। जैसे ही व्यक्ति अवांछित विचारों और क्रियाओं को अपने व्यक्तित्व से निकालकर अपने अन्त:करण तथा व्यक्तित्व को शुद्ध करता है, जैसे ही वह अपनी हृदय की अपवित्रता, स्वार्थपरायणता, सांसारिक विषय-वासनाओं की अन्तिम जड़ को नष्ट कर देता है या उसे उखाड़ फेंकता है, वैसे ही, वह दिव्य शक्ति का वाहक बन जाता है। तभी व्यक्ति उच्चचरित्र में प्रतिष्ठित कहा जाता है। यही चरित्र अजेय होता है। इस पृथ्वी या संसार की कोई भी शक्ति ऐसे उच्च चरित्रवान व्यक्ति को विचलित नहीं कर सकती। कोई भी दुर्वासना उन्हें प्रलोभित नहीं कर सकती। कोई भी धन उन्हें खरीद नहीं सकता। यहाँ तक कि स्वयं मृत्यु भी उन्हें भयभीत नहीं कर सकती। ये महापुरुष इस धरती के सारतत्त्व हैं। ये महापुरुष ही मानवता के मार्गदर्शक और नेता होते हैं। इस प्रकार का चरित्र मानव-जीवन को पूर्णत: परिपूर्ण और सार्थक बना देता है। मनुष्य सर्वांगीण पूर्णता को प्राप्त कर लेता है। यही उच्च चरित्र का सार संक्षेप तथा आधार है।

आइये, हम सब कटिबद्ध होकर यह व्रत लें कि हम अपनी पूर्ण शक्तिभर प्रयास करेंगे तथा अपने चरित्र-निर्माण के किसी भी उपाय को अछूता नहीं छोड़ेंगे। इस संक्रमण काल में हमारे देश की यही सर्वश्रेष्ठ सेवा होगी, जो हम कर सकेंगे।

❖ (समाप्त) ❖
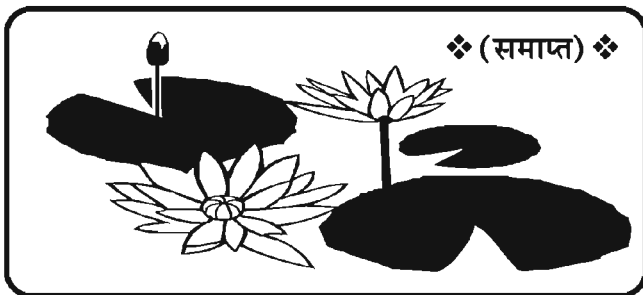
मन की रोक तरंग

डॉ. त्रिलोकी सिंह

घड़ी-दो-घड़ी इस जीवन में,
कर ले तू सत्संग।
मन के मत से, मत चल पगले !
मन की रोक तरंग।।

व्यर्थ कार्यों में यह जीवन
क्यों चौपट करता है?
सत्कर्मों की ओर तुम्हारा
कदम न क्यों बढ़ता है?
तेरे मन पर चढ़ा हुआ है,
इस दुनिया का रंग।
मन के मत से, मत चल पगले !
मन की रोक तरंग।।

अच्छे कर्मों से ही तेरा
जीवन सुखमय होगा।
बुरे कर्म से इस जीवन का
हर पल दुखमय होगा।।
मत बिगाड़ परलोक बावले
कर न किसी को तंग।
मन के मत से, मत चल पगले !
मन की रोक तरंग।।

बन जा पथिक भक्तिपथ का तू,
कर प्रभु का गुणगान।
इससे यह भवसागर तरना,
होगा अति आसान।।
सब कुछ छूटे पर न छोड़ना,
प्यारे प्रभु का संग।
मन के मत से, मत चल पगले !
मन की रोक तरंग।।

थोड़ा जीवन शेष बचा है,
जग जा, जग जा, जग जा।
चिन्ता छोड़, ईश-चिन्तन में,
लग जा, लग जा, लग जा।।
तभी जीत पाओगे बेशक,
इस जीवन की जंग।
मन के मत से, मत चल पगले !
मन की रोक तरंग।।

जीवन का प्रयोजन

स्वामी आत्मानन्द

(ब्रह्मलीन स्वामी आत्मानन्द जी ने आकाशवाणी के चिन्तन कार्यक्रम के लिए विविध विषयों पर अनेक विचारोत्तेजक लेख लिखे थे, जो उसके विभिन्न केन्द्रों द्वारा समय समय पर प्रसारित किये जाते रहे हैं तथा काफी लोकप्रिय हुए हैं। प्रस्तुत लेख आकाशवाणी, रायपुर से साभार गृहीत हुआ है। - सं.)

जीवन के प्रयोजन पर दो दृष्टियों से विचार किया गया है। पहली दृष्टि जड़वादी दृष्टि है। विज्ञान इस दृष्टि का प्रतिनिधित्व करता है। तथा, दूसरी दृष्टि आध्यात्मिक दृष्टि है। भारत की तत्त्वमीमांसा और विशेषकर वेदान्त में यह दृष्टि निबद्ध है। जीवन के सूक्ष्मतर रहस्यों के क्षेत्र में विज्ञान की कोई गति नहीं है, इसीलिए वह जीवन के प्रयोजन पर तात्त्विक दृष्टि से विचार नहीं कर सकता। जो लोग भौतिकवादी विचारधारा रखते हैं, वे इस जन्म को तथा जीवन की समस्त घटनाओं को एक्सिडेंट (आकस्मिक) माना करते हैं। भारत में भी ऐसे जड़वादी चार्वाक रहे हैं, जिन्होंने जीवन के आगे-पीछे कुछ भी नहीं देखा। वे तो यहाँ तक कह गए – **यावज्जीवेत् सुखं जीवेत् ऋणं कृत्वा घृतं पिबेत्। भस्मीभूतस्य देहस्य पुनरागमनं कुतः ॥** – जब तक जीओ, मौज से जीओ। यदि उसके लिए उधार लेकर घी पीने की आवश्यकता हो, तो वह भी करो। एक बार देह के भस्मीभूत हो जाने पर आने का सवाल ही कहाँ है।

अनेक भौतिकवादियों ने इस जीवन को आकस्मिक माना। वे इसका कोई लक्ष्य या उद्देश्य नहीं देख पाये। पर आज का विज्ञान किसी घटना को आकस्मिक नहीं कहता। यदि कोई बात 'आकस्मिक' दिखाई देती है, तो केवल इसलिए कि हम उसके पीछे छिपे नियम को जानने में असमर्थ हैं। वैसे ही आज का विज्ञान भी जीवन को निरुद्देश्य नहीं मानता। हम प्रवाह-पतित तिनके नहीं है कि जिधर हमें प्रवाह बहा ले जाय, बहते रहेंगे। आज कोई भी व्यक्ति अपने जीवन को लक्ष्यहीन नहीं मान सकता। पैसा कमाना और धन संचय करना, परिवार का पालन-पोषण करना, समाज में प्रतिष्ठा प्राप्त करना – यह सब जीवन का लक्ष्य नहीं हो सकता। यह तो पशु-पक्षी भी करते हैं। चीटियाँ संग्रह करती हैं, पशु-पक्षी अपने परिवार का पालन-पोषण करते हैं। पशु भी अपने दल का नेता होना पसन्द करते हैं। यदि मनुष्य भी इन्हीं सबको स्पृहणीय माने, तो उसमें और पशु में क्या भेद? संस्कृत के एक सुभाषित में कहा गया है – **आहार-निद्रा-भय-मैथुनञ्च सामान्यमेतत् पशुभिः नराणाम्। धर्मो हि तेषामधिको विशेषः तेनैव हीनाः पशुभिः समानाः ॥** – आहार, निद्रा, भय और प्रजनन की वृत्तियाँ पशुओं और मनुष्यों में समान हैं। मनुष्यों में धर्म की वृत्ति अधिक या विशेष हुआ करती है। यदि मनुष्य धर्म की वृत्ति से हीन हो जाय तो वह पशु के ही समान है।

यह धर्म ही मनुष्य में विशेषता लाता है। पशु अपने मन का नियंत्रण नहीं कर सकता। वह अपनी गतिविधियों का साक्षी नहीं बन सकता, क्योंकि वह अपनी सहज प्रवृत्तियों के द्वारा परिचालित होता है। पर मनुष्य का मन इतना विकसित है कि वह अपनी क्रियाओं को समझने और पकड़ने में समर्थ होता है, वह मानो सहज हटकर अपनी क्रियाओं को देख सकता है। यही उसकी विशेषता है। पर यह विशेषता आज उसमें सम्भावना के रूप में छिपी है। यह सम्भावना जितनी मात्रा में प्रकट होती है, उतनी मात्रा में मनुष्य अपनी विकास-यात्रा का स्वामी होता जाता है और जिस दिन वह इस सम्भावना को पूरी तरह प्रकट कर लेता है, उस दिन वह पूर्ण बन जाता है, बुद्ध बन जाता है, कृष्ण और ईसा बन जाता है, रामकृष्ण बन जाता है, सत्य का साक्षात्कार कर लेता है। उसके जीवन में तब विकास-क्रम की पूर्णता साधित हो जाती है। लिंकन बार्नेट अपनी प्रसिद्ध पुस्तक 'दि युनिवर्स एंड डॉक्टर आईंस्टीन' में लिखते हैं कि मनुष्य अपनी इस सम्भावना से अपरिचित होने के कारण ही अशान्ति और दुःख का शिकार है। उसके अनुसार मनुष्य की 'नोबलेस्ट एण्ड मोस्ट मिस्टीरियस फैकल्टी' – सबसे उदात्त और रहस्यमयी क्षमता है – "दि एबिलिटी टू ट्रांसेंड हिमसेल्फ एंड परसीव हिमसेल्फ इन दि एक्ट आफ परसेप्शन" – "अपने को लाँघकर देखने की इस क्रिया में अपने आपको देखने की सामर्थ्य।" मनुष्य की इसी क्षमता को हम धर्म की भाषा में साक्षीभाव के नाम से पुकारते हैं। पशु में यह क्षमता नहीं होती। जिस उपाय से मनुष्य अपनी इस छिपी क्षमता को अभिव्यक्त करता है, उसे हम 'धर्म' के नाम से सम्बोधित करते हैं। अपनी इस क्षमता का प्रकाशन मानव-जीवन का चिर प्रयोजन है।

❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑❑

राजा अजीतसिंह की लंदन-यात्रा

स्वामी विदेहात्मानन्द

(१८९१ ई. में स्वामी विवेकानन्द ने उत्तरी-पश्चिमी भारत का भ्रमण करते हुए राजस्थान में भी काफी काल बिताया था। उसी समय उनका खेतड़ी-नरेश अजीत सिंह के साथ घनिष्ठ सम्पर्क हुआ। तदुपरान्त वे महाराजा तथा कुछ अन्य लोगों की सहायता से अमेरिका गये। वहाँ से उन्होंने महाराजा को अनेक पत्र लिखे। कई वर्षों तक धर्म-प्रचार करने के बाद वे यूरोप होते हुए भारत लौटे। फिर भारत में प्रचार तथा सेवा-कार्य के दौरान उनका राजपुताना तथा खेतड़ी-नरेश के साथ कैसे सम्पर्क रहा, प्रस्तुत है उसी का सविस्तार विवरण। – सं.)

स्वामीजी को लन्दन चलने का प्रस्ताव

राजा अजीतसिंह ने कोलकाता आकर स्वामीजी को अपने साथ इंग्लैंड चलने का निमंत्रण दिया था, परन्तु चिकित्सकों ने उनके बिगड़े हुए स्वास्थ्य को ध्यान में रखकर इसके लिये अनुमति नहीं दी। स्वामीजी ने अपने कई पत्रों में इस बात पर खेद व्यक्त किया है और यह भी इच्छा व्यक्त की है कि उनके वापस लौटने पर उनके इस साहसिक कदम के लिये उनका अभिनन्दन किया जाय। कुछ उद्धरण इस प्रकार हैं – २८ अप्रैल १८९७ को उन्होंने दार्जिलिंग से मेरी हेल को लिखा – "राजा अजीतसिंह तथा और भी कई राजा आगामी शनिवार को इंग्लैड की यात्रा कर रहे हैं। उन्होंने बहुत चेष्टा की कि मैं उनके साथ जाऊँ, परन्तु दुर्भाग्यवश डॉक्टरों ने मेरा अभी किसी प्रकार का शारीरिक या मानसिक श्रम करना स्वीकार नहीं किया। अत: बड़ी निराशा के साथ मुझे वह विचार छोड़ देना पड़ा। मैंने अब उसे किसी निकट भविष्य के लिये रख छोड़ा है।" (६/३१५)

९ जुलाई १८९७ को स्वामी शिवानन्द के नाम अल्मोड़ा से लिखते हैं – "खेतड़ी के राजा (अजीतसिंह) तथा जोधपुर के प्रतापसिंह ने इंग्लैंड जाने और वहाँ आयोजित जुबली समारोह अपनी भारतीय रियासतों का प्रतिनिधित्व करने का जो साहस दिखाया है, इसके लिये उन्हें स्वागत-पत्र प्रदान करने हेतु मद्रास में एक सार्वजनिक सभा का आयोजन करना होगा। यह उनके भारत लौटने पर किया जाना है, परन्तु उसके लिये तुम्हें अभी से प्रयास में लग जाना होगा। तुम कोलम्बो जाओ और वहाँ भी एक ऐसी ही सभा का आयोजन करो।"[१]

१० जुलाई को वहीं से मिस मैक्लाउड को लिखते हैं – "डॉक्टरों द्वारा खेतड़ी के राजा साहब के साथ इंग्लैंड जाने की अनुमति न मिलने के कारण मैं अत्यन्त दुखी हूँ; और स्टर्डी भी इससे अत्यन्त क्षुब्ध हो उठा है।" (६/३४७-८)

२३ जुलाई, निवेदिता को – "मेरे एक श्रेष्ठ कार्यकर्ता खेतड़ी के राजा साहब इस समय इंग्लैंड में हैं। आशा है कि वे शीघ्र ही भारत वापस आयेंगे और अवश्य ही मेरे विशेष सहायक होंगे।" (६/३५५) फिर २८ जुलाई के दिन श्रीमती लेगेट को – "काश, मैं लंदन में होता और खेतड़ी के राजा साहब का निमंत्रण स्वीकार कर पाता। ... दुर्भाग्यवश मैं राजा साहब का साथ न दे सका।" (६/३५९-६०)

यूरोप में राजा अजीतसिंह

(१ मई से २२ अक्तूबर १८९७ तक)[२]

विदेश जानेवाले राजपूत राजाओं में खेतड़ी के अजीतसिंह जी ही प्रथम थे। उनकी पार्टी में उनके साथ और भी छह लोग थे। जोधपुर के कर्नल सर प्रतापसिंह भी उसी जहाज से जा रहे थे। इन लोगों ने १ मई १८९७ को मुम्बई से 'ब्रिटानिया' नामक जहाज में प्रस्थान किया।

जहाज पोर्टसईद, अदन, माल्टा, जिब्राल्टर, लिस्बन होते हुए २२ मई को लन्दन पहुँचा। वहाँ कर्नल ट्रेवर उनकी अगवानी करने आये हुए थे। उनके साथ राजाजी तथा उनकी पार्टी विक्टोरिया होटल जाकर उसकी दस-मंजिली इमारत में ठहरी।

अगले दिन (२३ मई) ११ बजे राजा साहब कर्नल ट्रेवर के साथ बग्घी में नगर की सैर करने निकले। पहले वे हाइड पार्क देखने गये, उसके बाद एलेग्जेंड्रिया होटल जाकर महाराज सर प्रतापसिंह जी से मिले। इस बीच स्वामीजी के मित्र श्री ई.टी.स्टर्डी उनसे मिलने आये, परन्तु (महाराजा की अनुपस्थिति के कारण) अपना कार्ड छोड़ गये।

६ जून को बाबू अक्षय कुमार घोष मिलने आये।

८ जून को शाम ६ बजे महाराजा अपने संगियों के साथ केरियर्स कम्पनी द्वारा इंग्लैंड में हिन्दू तथा औपनिवेशिक अतिथियों को दिये हुए भोज में सम्मिलित होने के लिये पधारे। वहाँ उनके प्रति बड़ा सम्मान दिखाया गया और राजा साहब का एक भाषण भी हुआ।

९ जून, डॉ. हेडली Rulers of India नाम का एक ग्रन्थ लिखा है। उसके लिये राजा साहब का भी चित्र ले गये।

---

१. Complete Works of Swami Vivekananda, Vol. 9, P. 98

२. आदर्श नरेश, पृ. १७५-२२६ से संकलित

७ जुलाई – १० बजे मिसेज क्लारेंस मॉट वॉली (Mrs. Clarence Matt Wolley) तथा उनके पति महाराजा से मिलने आये। ये विवाह के पूर्व मिस मेरी हेल के नाम से परिचित थीं। स्वामीजी ने शिकागो-प्रवास का काफी समय इन्हीं के घर बिताया था। यह दम्पति शिकागो से इंग्लैंड सैर करने आया था और ९ जुलाई को अमेरका लौटने वाला था।

१२ जुलाई – महारानी विक्टोरिया की ओर से बर्किंघम पैलेस में रात्रिभोज तथा विंडसर कैसल में निवास करने का निमंत्रण मिला। पौने नौ बजे डिनर था। कुछ गिने-चुने अतिथि ही उपस्थित थे। महारानी जिस अतिथि के सामने से होकर गुजरीं, राज्य-सचिव उनका नाम बोलता गया और वे सिर झुकाकर उनका अभिवादन करते गये। महारानी तथा राज-परिवार की महिलाएँ भी भोज में अपने नियत स्थान पर जा बैठीं। भोज के उपरान्त महारानी विक्टोरिया एक सोफे पर विराजीं। प्रत्येक अतिथि को लाकर उनसे परिचय कराया गया। महारानी ने राजा साहब से कुशल-प्रश्न के बाद अकाल तथा प्लेग का हाल पूछा और पीड़ित लोगों के कष्ट-निवारण के प्रयत्नों के विषय में बातें कीं। इसके बाद महारानी ने खड़ी होकर उन्हें एक स्वर्ण पदक प्रदान किया।

११ से २६ अगस्त तक – स्काटलैंड का दौरा किया। २ सितम्बर को जर्मनी के लिये रवाना हुए। ६ को जर्मनी के सम्राट् कैसर से मिले। इटली की महारानी से भी भेंट हुई। १० को बेलजियम के राजा से मिले तथा श्यामदेश के राजा से परिचय हुआ। ११ को लन्दन लौट आये। २० को पेरिस पहुँचे। २५ को जेनेवा (स्विटजरलैंड) गये। ३० को वेनिस। वहाँ से दो दिन रोम (इटली) में। उसके बाद मुम्बई के लिये रवाना हुए। इस यात्रा के दौरान वे प्रिंस बिस्मार्क तथा प्रोफेसर मैक्समूलर से भी मिले थे। (आदर्श नरेश, २२३)

८ जून की शाम को राजा साहब का जो भाषण हुआ था, उसकी रिपोर्ट भारत के 'बॉम्बे गजट' नामक अखबार के ११ जून (१८९६) के अंक में सम्पादकीय टिप्पणी के रूप में सविस्तार छपी थी। इस लेख में सूचित किया गया था – "(खेतड़ी-नरेश) एक प्रबुद्ध शासक के रूप में जाने जाते हैं। खेतड़ी, यद्यपि कई दृष्टियों से जयपुर राज्य के अधीन है, तथापि भारत में ब्रिटिश राज्य के प्रारम्भ से ही इसे गवर्नर-जनरल के साथ सीधे सम्बन्ध रखने का विशेषाधिकार प्राप्त है।" इसके सिवा उक्त लेख में बताया गया था कि खेतड़ी के महाराजा, जयपुर-नरेश के अतिरिक्त भारत के अन्य सभी राजाओं के साथ समान व्यवहार करते हैं। विभिन्न राजा-महाराजा तथा लेफ्टीनेंट गवर्नर उनका आतिथ्य स्वीकार करते हैं। वे उन लोगों के यहाँ वापसी-यात्रा भी करते हैं। दिल्ली साम्राज्य के साथ खेतड़ी का सीधा सम्पर्क है। वहीं से खेतड़ी की 'राजा-उपाधि' तथा सनद प्राप्ति हुई है। मराठों के साथ खेतड़ी का पहले से ही सम्पर्क था। ब्रिटिश शासन के शुरुआत से ही उसे गवर्नर-जनरल के साथ सीधे सम्बन्ध रखने का सम्मान प्राप्त है।[3]

स्वामीजी द्वारा अभिनन्दन-पत्र सम्बन्धी निर्देश

जैसा कि पहले ही बताया जा चुका है – स्वामीजी ने अपने गुरुभाइयों को लिखा कि महाराजा के लौटने पर उनके द्वारा विदेश-यात्रा के इस साहसिक कदम पर मठ की ओर से उनका अभिनन्दन किया जाय।

३० सितम्बर, श्रीनगर (कश्मीर) से रामकृष्णानन्दजी को – "खेतड़ी के राजा साहब १० अक्तूबर को मुम्बई पहुँचेंगे; उन्हें अभिनन्दन-पत्र देने में भूल नहीं होनी चाहिये।" उसी दिन ब्रह्मानन्दजी को भी लिखते हैं – "खेतड़ी के महाराज १० अक्तूबर को मुम्बई पहुँच रहे हैं। उनको एक 'अभिनन्दन' समर्पित करना मत भूलना।" (६/३७६)

१० अक्तूबर को मरी से वे ब्रह्मानन्दजी को फिर लिखते हैं – "इस अभिनन्दन-पत्र को सुनहरे रंग में छपवाकर खेतड़ी के राजा साहब को भेजना होगा। राजा साहब २१-२२ अक्तूबर तक मुम्बई पहुँच जायेंगे। इस समय हम लोगों में से कोई भी मुम्बई में नहीं है। यदि कोई हो तो उसे एक 'प्रति' भेज देना – ताकि वह जहाज में ही अथवा मुम्बई के किसी स्थान पर राजा साहब को उक्त अभिनन्दन-पत्र प्रदान करे। जो 'प्रति' सब से उत्तम हो, उसे खेतड़ी भेज देना। किसी सभा में उसे पढ़ लेना। यदि किसी अंश को बदलने की इच्छा हो, तो कोई हानि नहीं है। इसके बाद सभी लोग हस्ताक्षर कर देना; केवल मेरे नाम की जगह को खाली छोड़ देना – मैं खेतड़ी पहुँचकर हस्ताक्षर कर दूँगा। इस बारे में कोई त्रुटि न हो।... राजा विनयकृष्ण की ओर से जो अभिनन्दन-पत्र दिया जायेगा, उसमें भले ही दो दिन की देरी हो – हम लोगों का पहुँच जाना चाहिए।" (६/३७९)

इस पत्र से ऐसा प्रतीत होता है कि स्वामीजी ने स्वयं ही यह अभिनन्दन-पत्र बनाकर पत्र के साथ भेजा था। इस बात की कोई सूचना नहीं मिलती कि उसकी प्रतिलिपि मुम्बई में राजा साहब को दी गयी थी या नहीं, परन्तु लगभग डेढ़ माह बाद स्वामीजी स्वयं ही खेतड़ी पहुँचे और सम्भवत: तब तक वह अभिनन्दन पत्र वहाँ पहुँच चुका था।

मुम्बई के नागरिकों द्वारा राजा का अभिनन्दन

राजा अजीतसिंह अपनी छह महीने की यूरोप-यात्रा पूरी करके 'कालोडोनिया' नामक जहाज से २२ अक्तूबर १८९७ को वापस मुम्बई पहुँचे। खेतड़ी, सीकर तथा पालिताना के अनेक प्रतिष्ठित लोग तथा सेठ-साहूकार बन्दरगाह पर उपस्थित

3. Vivekananda in Contemporary Indian News 1893-1902, Vol II, P. 728-9; विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष, खण्ड १, पृ. ७३

थे। शानदार जुलूस के साथ उनकी सवारी बालकेश्वर पधारी। वहीं उनके निवास का प्रबन्ध था। महाराज के स्वागतार्थ मुम्बई में एक सत्कार-समिति बनायी गयी थी, जिसके मंत्री मुम्बई हाईकोर्ट के एडवोकेट श्री एस. एस. सेटलूर थे।

२३ अक्तूबर को गिरगाँव बैंक रोड (अब विट्ठलभाई पटेल रोड) पर स्थित श्री त्रिभुवनदास मंगलदास नाथूभाई के विशाल भवन में राजाजी को सम्मानित करने के लिये एक भव्य सभा का आयोजन किया गया था। सभा की अध्यक्षता मुम्बई हाइकोर्ट के जस्टिस महादेव गोविन्द रानाडे ने की। 'टाइम्स ऑफ इंडिया' समाचार-पत्र के रिपोर्ट में लिखा है –

"खेतड़ी-नरेश महामहिम श्रीयुत् अजीत सिंह बहादुर, महारानी विक्टोरिया के शासन की हीरक जयन्ती का समारोह देखने के लिये इंग्लैंड गये थे और पिछले जहाज से यहाँ वापस पहुँचे हैं। उन्हें शनिवार की शाम को श्री त्रिभुवनदास मंगलदास नत्थूभाई के गिरगाँव बैंक रोड स्थित निवास पर कुछ हिन्दू नागरिकों द्वारा एक मानपत्र अर्पित किया गया। वहाँ काफी संख्या में हिन्दू लोग उपस्थित थे।... राजा साहब के पधारने पर श्री त्रिभुवनदास मंगलदास तथा कमेटी के अन्य सदस्यों ने उनका स्वागत किया और उन्हें दूसरी मंजिल पर स्थित स्वागत-कक्ष में ले गये।" श्री त्रिभुवनदास मंगलदास ने कमेटी की ओर से अभिनन्दन-पत्र का पाठ करते हुए सभा की कार्यवाही आरम्भ की –

लंदन में राजा अजीतसिंह

"सेवा में, खेतड़ी-नरेश महामहिम श्रीयुत् अजीतसिंह बहादुर, आप प्राचीन क्षत्रिय वंश के एक सुयोग्य प्रतिनिधि हैं, जो सदा से ही भारत के गौरव रहे हैं। मुम्बई के हिन्दुओं की ओर से हमें महाराज के प्रति अपने श्रद्धा तथा सम्मान के प्रतीक के रूप में यह जो मानपत्र समर्पित करने की अनुमति मिली है, इसमें हम अत्यन्त गर्व का बोध कर रहे हैं।

आपने इंग्लैंड की समुद्र-यात्रा करने में जिस दुर्लभ मानसिक साहस का परिचय दिया है, वह इस बात का द्योतक है कि महाराज पूर्ण रूप से यह अनुभव करते हैं कि भारत के राजा-महाराजा, जो हमारे स्वाभाविक नेता हैं, अपने उदाहरण के द्वारा हमारा मार्गदर्शन करेंगे। ये सुधार हमारे देश के पुनर्निर्माण के लिये नितान्त आवश्यक हैं।

इंग्लैंड के सभी अंचलों में महाराज को जो भव्य स्वागत-सत्कार प्राप्त हुआ; फिर भारतेश्वरी महारानी विक्टोरिया द्वारा आपके प्रति विशेष अनुकम्पा के रूप में आपको अपने अतिथि के रूप में अपने विंडसर-महल में रखा गया और स्वर्ण-पदक द्वारा विभूषित किया गया, यह असन्दिग्ध रूप से महाराज की स्वामिभक्ति तथा ब्रिटिश सरकार के प्रति निष्ठा के प्रति उनकी प्रशंसा के भाव का द्योतक है।

मुम्बई-निवासी आपकी प्रजागण तथा सुदूर खेतड़ी से यहाँ इतनी संख्या में आकर, महाराज के स्वदेश लौटने पर उनके स्वागत के लिये इस हॉल में उपस्थित होना, महाराज के प्रति उनकी प्रीति तथा लगाव को व्यक्त करता है, जिनकी वर्तमान खुशहाली तथा समृद्धि का श्रेय, उनकी रियासत का आपके कुशल तथा सहानुभूतिपूर्ण प्रशासन को जाता है।

पूरा भारतवर्ष इसलिये भी महाराज के प्रति एक गहन कृतज्ञता का भाव रखता है, क्योंकि आप ही ऐसे प्रथम व्यक्ति थे, जिन्होंने स्वामी विवेकानन्द जी की अद्भुत क्षमताओं को पहचाना; और यूरोप-अमेरिका में उनके वेदान्त-प्रचार-कार्य के सम्पादन में सहायता की। इसके फलस्वरूप सभ्य संसार आज हमारे हिन्दू धर्म को उस सम्मान तथा प्रशंसा के भाव से देखने लगा है, जिसका कि वह अधिकारी है।

महाराज की दीर्घायु तथा समृद्धि की कामना के साथ, हम हैं महाराज के प्रशंसक – त्रिभुवनदास मंगलदास, जे.पी. (नगरसेठ); भालचन्द्र कृष्ण भाटवड़ेकर (सदस्य, विधानसभा); गोकुलदास के. पारिख, बी.ए., एल.एल.बी., (सदस्य, विधानसभा); चिमनलाल एच. सीतलवाड़, बी.ए., एल.एल.बी., (अधिवक्ता, हाइकोर्ट); विठलदास दामोदर ठाकरसी मूलजी, जे.पी. (मिल-मालिक); मामराज रामभगत (व्यवसायी); और एस.एस. सेटलूर बी.ए., एल.एल.बी., (अधिवक्ता, हाइकोर्ट)।[४]

यह अभिनन्दन पत्र चाँदी के एक सुन्दर कास्केट में रखकर राजा साहब को भेंट किया गया।[५]

महाराजा का उत्तर

अभिनन्दन के उत्तर में सबको धन्यवाद देते हुए राजा साहब ने कुछ विस्तार के साथ अपने इंग्लैंड यात्रा के अनुभव बताये। उन्होंने जयन्ती की शोभायात्रा का वर्णन किया, जिसमें भारतीय राजाओं ने बड़ा ही सक्रिय भाग लिया था; और अंग्रेजों की कार्य-कुशलता, न्यायप्रियता तथा समुचित

4. Vivekananda in Contemporary Indian News 1893-1902, Vol II, P. 684-45, 87-88 ५. आदर्श नरेश, पृ. २४०-४

व्यवहार के लिये उनकी प्रशंसा की।

उन्होंने सामान्य रूप से भारत के और विशेष रूप से जोधपुर तथा जयपुर के राजाओं की स्वामीभक्ति का उल्लेख किया, जिन्होंने स्वेच्छापूर्वक अपनी सेवाएँ दीं और ब्रिटिश साम्राज्य के शत्रुओं से लड़ने के लिये सीमा पर गये। राजपुताना के राजा पूरी तौर से विश्वस्त हैं। महारानी विक्टोरिया ने अपनी भारतीय प्रजा के विषय में स्थायी रुचि ली।

महारानी ने उनका तथा अन्य राजाओं का बड़े ही दयालुता तथा सम्मान के साथ स्वागत किया और महारानी ने पहला प्रश्न यही पूछा – "भारत में प्लेग तथा अकाल की क्या अवस्था है? क्या उनमें सुधार दीख रहा है? ऐसी शक्तिमती तथा विनम्र साम्राज्ञी द्वारा किये गये ये प्रश्न स्वयं ही उनके वैशिष्ट्य के द्योतक हैं। अंग्रेज लोग सामान्यत: बड़े ही सम्माननीय तथा अतिथिपरायण रहे। उन लोगों ने भारतवासियों का हार्दिक स्वागत किया और ऐसा प्रकट किया कि वे लोग वर्ण, जाति या सम्प्रदाय का कोई भेद नहीं करते। भारतवासियों के लिये यह उचित होगा कि वे भी अपने शासकों के प्रति इसी प्रकार की मित्रता तथा सामंजस्यपूर्ण भाव दिखाएँ। इससे होनेवाला लाभ अत्यधिक होगा। (जोर की तालियाँ)।[६]

लंदन में राजा अजीतसिंह

पत्र-पत्रिकाओं की प्रतिक्रिया

महाराजा के निर्माण में स्वामीजी की जो भूमिका थी और समुद्र-पार की यात्रा करके राजा ने जो जोखिम उठाया था, उसके विषय में 'इंडियन-स्पेक्टेटर' के सम्पादक तथा सुप्रसिद्ध समाज-सुधारक श्री बी. एम. मलाबारी ने अपने ३१ अक्तूबर के अंक में लिखा – "खेतड़ी के महाराजा अभी-अभी इंग्लैंड से लौटे हैं और उन्हें सम्मानित करके मुम्बई के हिन्दुओं ने बड़ा अच्छा काम किया है।... महाराजा को जो मानपत्र दिया गया था, उससे हमें लगता है कि यह सभा उनकी यात्रा के राजनीतिक नहीं, बल्कि नैतिक, सामाजिक तथा धार्मिक महत्त्व को रेखांकित करने के लिये आयोजित की गयी थी। यह बताने के लिये कि विशुद्ध क्षत्रिय कुल के एक ऐसे राजा भी हैं, जिन्होंने कालापानी (समुद्र) पार करने का साहस किया है और इस विषय को लेकर पूरे राजपुताना में उन पर आने वाले घोर संकट के संकेत पहले से ही मिल चुके हैं।... इसके अतिरिक्त महाराजा स्वामी विवेकानन्द के एक शिष्य भी हैं। महाराजा ने स्वीकार किया कि वे स्वामी विवेकानन्द के काफी ऋणी हैं, केवल गुरु के रूप में ही नहीं, बल्कि पाश्चात्य देशों से सच्चे ज्ञान-लाभ की प्रेरणा भी उन्होंने ही प्रदान की है। उन्होने ही विश्व-भ्रमण की प्रेरणा भी दी, जिसके द्वारा आत्मसुधार तथा अपने देश तथा समुदाय के लोगों में नव-जागरण भी लाया जा सकेगा।" उक्त लेख में यह भी लिखा था, "स्पष्ट है कि वे कोई निरुद्देश्य पर्यटक नहीं, बल्कि एक भिन्न व्यक्ति हैं।"[७]

'हिन्दू' के मुम्बई संवाददाता ने भी महाराजा पर स्वामीजी के प्रभाव विषयक उपरोक्त मत का समर्थन किया था। अपने ६ नवम्बर १८९७ के अंक में उसने स्वामीजी के अनुपम विशेषताओं की प्रशंसा करते हुए लिखा था, "यह उदाहरण हमें दिखाता है कि स्वामीजी सचमुच ही एक अद्भुत व्यक्ति हैं। एक राजपूत राजा के मन में भौतिक-विज्ञान तथा नक्षत्र-विज्ञान के प्रति रुचि पैदा करना कोई साधारण बात नहीं है, जबकि हम यह जानते हैं कि विवेकानन्द उक्त दोनों विज्ञानों में से किसी के भी विद्वान् नहीं हैं। वैसे वे दोनों विषय भलीभाँति जानते हैं, पर उनकी विशेषज्ञता के विषय धर्म तथा अध्यात्म-विज्ञान हैं। यह उनकी उस असाधारण प्रतिभा का द्योतक है, जो दूसरों में निहित गुणों को पहचान लेती है तथा उनके विकास में प्रेरणा प्रदान करती है। किस प्रकार उन्होंने अमेरिकी तथा अंग्रेज लोगों पर महान् प्रभाव का विस्तार किया था, यह कुछ हद तक उस रहस्य को भी प्रकट करती है। दूसरों की अनुभूति के भीतर प्रवेश करके, उसे यथोचित महत्त्व प्रदान करके, उसकी मानसिक प्रवृत्ति को एक ऐसे मार्ग पर प्रवाहित करना, जिससे उसका सर्वश्रेष्ठ विकास सम्भव हो – यह चीज (स्वामीजी की) एक विशेष प्रकार की दुर्लभ क्षमता का प्रमाण है। और उन्होंने महाराजा पर जो अमिट छाप छोड़ी है, उसे देखकर मुझे बड़ी खुशी हुई।"[८]

वापस खेतड़ी में

२४ अक्तूबर को राजा साहब ने मुम्बई से खेतड़ी के लिये प्रस्थान किया।

❖ (क्रमश:) ❖

६. Vivekananda in Contemporary Indian News, Ed. 2007, Vol II, P. 684-85 (The Times of India – October 25, 1897)

७. Vivekananda in Indian Newspapers, by S. P. Basu, Ed. 1969, P. 413-14 – (Indian Spectator – October 31, 1897)

८. Vivekananda in Contemporary Indian News Vol I, P. 333 -34, Vol II, P. 87-88; स्वामी विवेकानन्द ओ समकालीन भारतवर्ष (बँगला), खण्ड १, पृ. ७३; तथा खण्ड ३, पृ. १७५-७६

माँ की स्मृति

सुहासिनी देवी

(माँ श्री सारदा देवी दैवी-मातृत्व की जीवन्त विग्रह थीं। उनके अनेक शिष्यों तथा भक्तों ने उनकी मधुर-पावन स्मृतियाँ लिपिबद्ध कर रखी हैं। बँगला ग्रन्थ 'श्रीश्री मायेर पदप्रान्ते' से इस लेख का अनुवाद किया है इलाहाबाद की श्रीमती मधूलिका श्रीवास्तव ने। – सं.)

(मेरी माँ सुहासिनी देवी ने माँ को उद्बोधन-भवन में देखा था। भक्त-महिलाओं तथा मेरी माँ से भी माँ जो बातें कहतीं, वे उन्हें अपनी डायरी में लिख लेती। गौरी माँ तथा ठाकुर के जिन शिष्यों के सान्निध्य का सौभाग्य उन्हें प्राप्त हुआ था, वे थे – स्वामी ब्रह्मानन्द, स्वामी सारदानन्द और स्वामी अभेदानन्द। माँ ने उनकी बातें भी अपनी डायरी में लिखकर रख लिया था। माँ की यह डायरी एक दिन सरला दीदी ने देखा। वे बड़ी खुश होकर बोलीं, "यह तुमने अति उत्तम कार्य किया है। एक दिन माँ भी तो ठाकुर के पास चली जायेगीं। तब हम लोग उनकी बातें नहीं सुन पायेंगे। लिखा हुआ हो, तो बीच-बीच में मन खराब होने पर उसे पढ़कर शान्ति पायेंगे। तुम पढ़ो या जो कोई भी पढ़ेगा, उसी के मन में भक्ति-प्रेम और पवित्रता आयेगी।" माँ ने अपनी डायरी में 'माँ' के बारे में जो कुछ लिख रखा था, उसी को यहाँ उद्धृत किया जा रहा है। – नीलिमा चट्टोपाध्याय, आरामबाग।)

मेरी प्रथम पुत्री शान्ति का जन्म होने के बाद दो जुड़वा पुत्रियाँ हुईं। कुछ दिनों बाद दोनों की मृत्यु हो गयी। स्वाभाविक रूप से ही उन दिनों मेरा मन बड़ा दुखी था। सरला दीदी मेरी बचपन की सखी थी। वे मुझे माँ के पास ले गयीं। यह १९१८ ई. की बात है। उन दिनों वे बोसपाड़ा लेन के भागिनी निवेदिता स्कूल में रहती थीं। ये सरला दीदी ही परवर्ती काल में सारदा-मठ की प्रथम अध्यक्ष प्रव्राजिका भारतीप्राणा हुईं। माँ का उन पर बड़ा स्नेह था। वे निवेदिता स्कूल से आकर माँ की सेवा करतीं। दीदी मुझे माँ के घर – 'उद्बोधन-भवन' ले गयीं। तब वह इतना बड़ा नहीं था। माँ दूसरी मंजिल पर अपने कमरे में पूजा कर रही थीं।

बरामदे से माँ दिखाई दे रही थीं। देखा – माँ गम्भीर ध्यान में मग्न हैं। मैंने ध्यानरत माँ तथा सिंहासन पर विराजमान ठाकुर को देखा। यही माँ का मेरा प्रथम दर्शन था। देखकर लगा – सचमुच ही माँ जगदम्बा हैं। देखने में वे बहुत सुन्दर नहीं थीं, किन्तु उनके पूरे मुख-मण्डल से एक अलौकिक ज्योति निकल रही थी। उस चेहरे पर अपूर्व करुणा का भाव था। कुछ देर बाद माँ आँखें खोलकर एकाग्र चित्त से पुष्प-नैवेद्य के द्वारा ठाकुर की पूजा करने लगीं। काफी समय बाद भोग निवेदित करके माँ बरामदे में आकर खड़ी हो गयीं।

दीदी और मैंने उनके चरणों में सिर रखकर प्रणाम किया। माँ ने दीदी से पूछा, "यह लड़की कौन है?" वे बोलीं, "मेरी बचपन की सहेली है। पास ही रहती है।" फिर उन्होंने मेरे माता-पिता का परिचय दिया। इसके बाद बोलीं, "कुछ दिन हुए इसकी दो जुड़वा पुत्रियों की मृत्यु हो गयी है। बहुत दुखी है। इसीलिये आपके पास ले आयी।" माँ ने ममता भरे स्वर में कहा, "अहा, मेरी बच्ची !" और मेरे सिर पर हाथ रखकर बोलीं, "अच्छा है, जब भी समय मिले, बीच-बीच में मेरे पास चली आना।" माँ के उस स्नेह-स्पर्श तथा ममतापूर्ण बातों में मुझे जो मिला, उसे मैं शब्दों में व्यक्त नहीं कर सकती। स्नेह और करुणा से भरे वे दो अपूर्व नेत्र और प्राणों को शीतल करनेवाला उनके हाथों का वह स्पर्श ! ऐसा लगा मानो वे मेरी असंख्य जन्मों की माँ हैं – पूर्ण कुम्भ के समान हृदय में केवल मेरे लिये ही इतना स्नेह, इतनी ममता, इतनी करुणा लिये बैठी हैं। माँ ने गोलाप-माँ से मुझे प्रसाद देने को कहा। गोलाप-माँ ने मुझे फल-प्रसाद दिया। माँ बोलीं, "खाओ बेटी। प्रसाद खाकर, हाथ धोकर चरणामृत पी लो।" मैं वैसा ही करके माँ के कमरे में आकर बैठ गयी। माँ ने अनेक बातें कहीं। दीदी मेरे कान में बोलीं, "अब हमें चलना चाहिये, नहीं तो माँ के जलपान में देरी हो जायेगी। गोलाप-माँ डाँटेंगी।" अनिच्छा होने पर भी उठना पड़ा। माँ को प्रणाम करने पर उन्होंने दोनों हाथ सिर पर रखकर कहा, "आना बेटी ! ठाकुर तुम्हारे मन में शान्ति दें। फिर आना।" जीवन्त जगदम्बा का दर्शन करते हुए मैंने उस दिन विदा ली।

इसके बाद मैं प्राय: ही माँ के पास 'उद्बोधन-भवन' में जाने लगी। कभी सरला-दीदी के साथ, कभी सुधीरा-दीदी (सुधीरा बसु) या प्रफुल्ल-मौसी (सरला दीदी की बालविधवा छोटी मौसी) के साथ जाती। जितनी देर भी मैं माँ के पास रहती, खूब अच्छा लगता। उसके बाद मेरा बेटा हरू पैदा हुआ। उस समय हम निवेदिता लेन के मकान में निवास कर रहे थे। जब हरू तीन-चार महीने का हो गया, तब सरला-दीदी बोलीं, "चलो, माँ को तुम्हारे बेटा दिखा लायें।" मैं गयी। देखते ही माँ बोलीं, "इतने दिन क्यों नहीं आई जी?"

मैंने हरू को माँ के चरणों में लिटाकर कहा, "यह देखो माँ – बच्चा हुआ है इसलिये। इसे अपने श्रीचरणों की धूलि दीजिये।" माँ बोलीं, "अहा, बच्चे को जमीन पर क्यों लिटा दिया? लाओ, उसे मेरी गोद में दो।" हरू को गोद में लेकर माँ बोलीं, "वाह, कितना अच्छा है!" माँ ने हरू के सिर पर हाथ फेरकर आशीर्वाद दिया है – यह देखकर मैं बिल्कुल अभिभूत हो उठी। थोड़ी देर बाद माँ को प्रणाम करके लौट आयी। माँ के पास से जब भी लौटती, तो यह सोचकर मन दुखी हो जाता कि कौन जाने दुबारा कब आ सकूँगी! लौटते समय माँ सिर पर हाथ रखकर, ठुड्डी छूकर स्नेह करतीं। माँ का यह स्पर्श मानो सदा के लिये लगा ही रह जाता।

माँ अन्तर्यामिनी थीं। रोज सोचती – अहा, इतने दिनों से माँ के पास जा रही हूँ, परन्तु कभी माँ की चरण-सेवा का थोड़ा-सा सौभाग्य नहीं मिला! यदि एक दिन भी माँ के चरणों पर जरा-सा हाथ फेर पाती! गोलाप-माँ के भय से मन की यह साध कभी मुँह खोलकर माँ से कह नहीं सकी। कह देने पर शायद माँ स्वयं ही इतनी सेवा का अधिकार दे देंती। मन की इच्छा मन में ही दबाये रोती और मन-ही-मन कहती, "माँ, मैंने ठाकुर को तो देखा नहीं – तुम्हारी दया से तुम्हें देखा, तुम्हारी बातें सुनी। तुम्हारे चरण स्पर्श किये। अपने सिर, मुख पर तुम्हारा स्पर्श मिला, पर क्या संसारी होने के कारण आप मेरी थोड़ी-सी भी सेवा स्वीकार नहीं करेंगी? क्या आपके चरणों पर जरा-सा हाथ फेरने का भी मुझे अधिकार नहीं है?"

इसके बाद एक दिन माँ के पास गयी। उस दिन शान्ति मेरे साथ थी। कमरे में जाकर देखा, माँ लेटी हैं। दो-तीन भक्त-महिलाएँ फर्श पर बिछी चटाई पर बैठी हुई हैं। दूर से भूमि पर सिर रखकर माँ को प्रणाम करते ही उन्होंने स्नेहपूर्वक कहा, "आयी हो बेटी, बैठो! स्वास्थ्य ठीक नहीं है। शरत्, गोलाप, योगीन, सरला – सभी मुझे लेकर परेशान हैं। मुझे स्वयं ही संकोच हो रहा है। फिर भी, बात यह है बेटी – देह धारण करने से देह का कष्ट तो भोगना ही होगा।"

यह कहकर माँ चुप हो गयीं। मैं माँ के चेहरे की ओर देखती रही। थोड़ी देर बाद वे मेरी ओर देखकर बोलीं, "बूढ़ी हो गयी हूँ, वात हो गया है। वात के कारण हाथ-पैरों में दर्द होता है। थोड़ा दबाने से आराम मिलता है। तुम जरा दबा दोगी?" एक भक्त-महिला ने तत्काल कहा, "मैं दबा देती हूँ, माँ!" माँ उनकी ओर स्नेह से देखकर बोलीं, "तुम बैठो, बेटी! तुमने तो उस दिन बहुत दबाया था। आज सुहास दबाये।" उस समय मेरे मन में आँधी चल रही थी। विस्मय तथा आनन्द के आवेग से मैं स्वयं को सम्हाल नहीं पा रही थी। माँ के चरणों पर हाथ फेरते हुए मन-ही-मन कह रही थी, "माँ, तुम अन्तर्यामिनी हो। तुमने मेरे हृदय की इच्छा को जान लिया है!" नेत्रों से आँसू छलक आना चाहते थे। अपना परम साध्य पाकर हृदय में भरे आनन्द के रुदन को रोकते हुए मैं फर्श पर बैठकर माँ के चरणों पर हाथ फेरने लगी। थोड़ी देर बाद ही माँ बोलीं, "यह क्या? फर्श पर बैठकर कैसे होगा बेटी! तुम उठो और इस तख्त पर ही बैठकर जरा जोर-जोर से दबाओ।" माँ का आदेश! मन-ही-मन ठाकुर और माँ से क्षमा माँगकर मैं तख्त पर बैठी और माँ के दोनों मृदु पाँवों को गोद में लेकर – ऋषि-मुनियों तथा देवताओं के आराध्य तथा दुर्लभ – आद्याशक्ति की चरण-सेवा करने लगी। थोड़ी देर बाद ही माँ ने करवट बदलकर कहा, "बहुत आराम मिला।" माँ करवट बदलकर लेटी थीं, मैंने शान्ति को इशारे से बुलाकर धीरे-से कहा, "आ, तू भी जरा माँ के चरणों पर हाथ फेर दे।" शान्ति को अपने नन्हे हाथों से चरणों पर हाथ फेरते देखकर माँ ने हँसकर कहा, "ओ बेटी, तू है! तुझे और नहीं करना होगा।" उन्होंने उसे स्नेहपूर्वक चूमकर पास बैठने को कहा।

काफी देर बाद गोलाप-माँ ने कमरे में प्रवेश किया। गोलाप-माँ को देखते ही मेरे हाथ अपने आप ही रुक गये। लगा कि माँ के तख्त पर बैठी हूँ, इसलिये वे मुझे डाँटने ही वाली हैं। माँ के नेत्र बन्द थे। मेरा हाथ रुक जाने पर माँ ने आँखें खोलकर कहा, "क्या हुआ जी?" उसके बाद गोलाप-माँ को देखकर माँ सब समझ गयीं। गोलाप-माँ ने माँ से कहा, "मुझे बुलाया क्यों नहीं?" माँ ने मृदु स्वर में कहा, "तुम लोग तो हमेशा ही कर रही हो। इन लोगों की भी तो इच्छा होती है। इसलिये मैंने ही कहा है। मैंने ही इसे तख्त पर बैठकर पाँव दबाने के लिये कहा है।" गोलाप-माँ ने जरा हँसकर मेरी तरफ देखकर कहा, "दबाओ बेटी, दबाओ।" मैंने पहली बार गोलाप-माँ को हँसकर इस प्रकार बात करते देखा। गोलाप-माँ प्रसन्न मुखमुद्रा में माँ के कमरे से चली गयीं। उसके बाद भी थोड़ी देर तक मैंने माँ की चरण-सेवा की। संध्या होने के पूर्व माँ बोलीं, "रहने दो बेटी! अब काफी आराम लग रहा है।"

कुछ देर बाद मैं माँ को प्रणाम करके घर लौटी। घर लौटकर उन दोनों हाथों से और कोई काम करने की इच्छा नहीं हो रही थी। लग रहा था – मेरे दोनों हाथों में माँ के चरणों का स्पर्श लगा है, किसी चीज में हाथ लगाने से वह स्पर्श खो जायेगा। उस रात आनन्द के कारण नींद नहीं आयी। अन्तर्यामिनी माँ की करुणा की बात सोचकर बार-बार नेत्रों के जल से सीना भीग जाता था। इसके बाद भी दो-तीन दिन उन दोनों हाथों से कुछ करने की इच्छा नहीं हो रही थी।

❖ (शेष आगामी अंक में) ❖

क्रोध पर विजय (६)

स्वामी बुधानन्द

(हमें अपने जीवन में प्राय: ही अपने तथा दूसरों के क्रोध का सामना करना पड़ता है, परन्तु हम नहीं जानते कि क्रोध क्या है, इसकी उत्पत्ति कैसे और कहाँ होती है, और उस पर कैसे नियंत्रण किया जाय। इसी विषय को लेकर रामकृष्ण संघ के एक विद्वान् संन्यासी स्वामी बुधानन्द जी ने १९८२ ई. में रामकृष्ण मिशन के दिल्ली केन्द्र में अंग्रेजी में एक व्याख्यान-माला प्रस्तुत की थी। बाद में ये व्याख्यान मद्रास मठ के आंग्ल मासिक 'वेदान्त-केसरी' में धारावाहिक रूप से और अन्तत: एक पुस्तिका के रूप में प्रकाशित हुए। आधुनिक जीवन में उनकी उपादेयता को देखते हुए 'विवेक-ज्योति' में हम उसका हिन्दी अनुवाद क्रमश: प्रस्तुत कर रहे हैं। – सं.)

क्रोध की सशक्ति औषधि – विनम्रता

'ईसाई पूर्णता' शब्द का अर्थ है – ईसा के माध्यम से बुद्धि तथा हृदय के जो गुण सहज भाव से प्रकट हुए थे, उन्हें अपने चरित्र में विकसित करना।

विनम्रता भी एक ऐसा गुण है, जो मनुष्य को पूर्ण बनाता है। स्वयं ईसा ने और उनके बाद के अधिकांश ईसाई सन्तों ने आध्यात्मिक पूर्णता की प्राप्ति में विनम्रता के अद्भुत महत्त्व को रेखांकित किया है।

सर्वप्रथम हमें अपने मन को इस भ्रान्त धारणा से मुक्त कर लेना होगा कि दुर्बल, डरपोक तथा रीढ़विहीन लोग ही अपने जीवन में विनम्रता को अपनाते हैं। परन्तु स्वयं ईसा और उनके साहसी शिष्यों तथा सन्तों के जीवन में हम देखते हैं कि चरित्र की महान् शक्ति के बिना जीवन में विनम्रता का गुण नहीं आता।

विनम्रता में आध्यात्मिक पूर्णता लाभ करने की सम्भावना तो निहित है ही, इसके अलावा सन्तों के मतानुसार यह क्रोध की चिकित्सा के लिये एक सबल औषधि भी है। ईसा अपने उद्‌गारों में कहते हैं – "धन्य हैं वे लोग, जो विनम्र हैं, क्योंकि धरती का साम्राज्य उन्हीं का है।" ऊपरी तौर से यह उक्ति विरोधाभासी प्रतीत हो सकती है, तथापि जिन ईसा को लटकाने के लिये स्वयं अपना सलीब ढोकर ले जाने को विवश किया गया, उन्हें आक्षरिक अर्थों में पृथ्वी का साम्राज्य प्राप्त हुआ। आज भी पूरे विश्व में करोड़ों लोग उनकी पूजा करते हैं। उन्होंने दु:खग्रस्त मानव-जाति का आह्वान करते हुए अतीव महत्त्वपूर्ण शब्दों में कहा है – "हे परिश्रम से थके, भारी बोझ से दबे-कुचले लोगो, मेरे पास आओ। मैं तुम्हें विश्राम प्रदान करूँगा। मेरे कार्य में लग जाओ और मेरे बारे में जानो; क्योंकि मैं विनम्र और हृदय से दीन हूँ। ... क्योंकि मेरा कार्य सहज है और मेरा भार हल्का है।"

हमें सलाह दी गयी है कि हम ईसा के इस विनम्रता के भाव को अपनायें और उसके द्वारा शान्ति प्राप्त करें, क्योंकि ये गुण उस अहं-केन्द्रित स्वभाव के विपरीत है, जो क्रोध को जगाकर आध्यात्मिकता के कोमल पौधे को नष्ट कर देता है।

स्वयं के प्रति विनम्रता

ईसा के उदाहरण तथा शिक्षाओं पर चलकर ईसाई सन्त, एक जीवन-दर्शन के रूप में विनय-भाव का उपदेश देते हैं और स्वयं के या दूसरों के प्रति हमारे विचारों तथा आचरण से इसके बिलगाव को स्वीकृति नहीं देते।

सेंट फ्रांसिस डी सेलेस कहते हैं – "जब विषय हमारे अपने भीतर हों, तब विनम्रता के सर्वश्रेष्ठ व्यावहारिक अभ्यासों में से एक यह है कि अपने स्वयं के दोषों के विषय में निराश न होना।"

हमारी आध्यात्मिक असफलताएँ भले ही हमारे मन में थोड़ा खेद उत्पन्न करें, परन्तु हमें सावधान रहना होगा कि इसके फलस्वरूप कहीं हम कटुता, हताशा या उत्तेजना से युक्त आत्मनिन्दा में न लिप्त हो जायँ। क्योंकि जो लोग क्रोध आ जाने के कारण स्वयं के प्रति अति क्रुद्ध हो जाते हैं, परेशान हो जाने के कारण अति परेशान हो जाते हैं और चिढ़ने पर और भी अधिक चिढ़ जाते हैं; वे लोग अपने हृदय को न केवल उत्तेजना में डुबा डालते हैं, अपितु इससे उनका क्रोध पर विजय पाने का कार्य और भी कठिन हो जाता है।

इसीलिये सन्त की सलाह है – "हमें अपने दोषों पर खेद होना चाहिये, परन्तु वह शान्तिपूर्ण, स्थिर तथा दृढ़ भाव से हो। अन्यथा हम अपने दोषों को उनकी वास्तविकता के लिये नहीं बल्कि उनके आभासमान रूप के लिये सजा दे रहे हैं। ... जिस प्रकार एक बालक को सुधारने के लिये उसके पिता के क्रोध तथा उत्तेजना की तुलना में हल्की तथा स्नेहपूर्ण झिड़की कहीं अधिक कारगर सिद्ध होती है, वैसे ही स्वयं से कोई भूल हो जाने पर यदि हम स्वयं के प्रति उत्तेजना की जगह करुणा का भाव लेकर हल्के तथा शान्त उलाहने के साथ अपने हृदय को डाँटे और उसे सुधार के लिये प्रोत्साहित करें, तो इसके द्वारा उत्पन्न हुआ पश्चाताप काफी गहराई तक जायेगा और एक उत्तेजनापूर्ण तूफानी पश्चाताप की अपेक्षा अधिक प्रभावी ढंग से हमारे हृदय में अंकित हो जायेगा। ... मान लीजिये मैंने अहंकार न करने का संकल्प किया है, परन्तु इसके बावजूद मैं बारम्बार स्वयं को उसी के फन्दे में

पड़ा हुआ पाता हूँ, तो मुझे स्वयं को इस प्रकार नहीं डाँटना चाहिये, 'क्या तुम दुष्ट और डाँटने योग्य नहीं हो, जो इतने संकल्पों के बाद भी तुम्हें लज्जित होना पड़ रहा है? तुम अन्धे हो, अब स्वर्ग की ओर दृष्टि मत उठाओ, तुम नमकहराम और ईशद्रोही हो।' इसके स्थान पर मुझे करुणा के मार्ग से विचारपूर्वक स्वयं को इस प्रकार उलाहना देना चाहिये, 'अहा ! मेरे बेचारे हृदय, देखो, हम लोगों ने इतनी दृढ़ता के साथ जिस गड्ढे से बचने का संकल्प लिया था, उसी में जा गिरे हैं ! ठीक है, चलो, हम लोग एक बार और उठें और इस हमेशा के लिये त्याग दें। चलो, हम ईश्वर से कृपा के लिये प्रार्थना करें और आशा करें कि इससे हमें भविष्य में अधिक स्थिर रहने में सहायता मिलेगी। चलो, हम फिर विनम्रता के पथ पर चल पड़ें।... ईश्वर हमारी सहायता करेंगे और इस बार हम अधिक सफल होंगे।' ''

इसका अर्थ यह है – प्रत्येक पतन के बाद हमें विनयपूर्वक, ईश्वर के समक्ष दीनता दिखाते हुए, अपनी स्वयं की दुर्बलता को समझते हुए, एक नये संकल्प के साथ, चाहे जैसे भी हो, पुन: उठना होगा। यह अपने स्वयं के दोषों के प्रति नाराजगीपूर्ण विरोध के साथ नहीं, अपितु अपनी दुर्बलताओं की सविनय स्वीकृति के साथ होगा; और हमारे अहंभाव को दूर करने तथा वास्तविक आध्यात्मिक शक्ति अर्जन में कहीं अधिक सहायता करेगा।

दूसरों के प्रति विनम्रता

हम कैसे दूसरों के साथ शान्ति स्थापित करें और पुन: सामंजस्य बैठा लें। यह एक महान् शिक्षा है और इसका हमें दृढ़तापूर्वक अभ्यास करना होगा। क्रोध कभी भी अस्पष्ट विचारों वाले नहीं, बल्कि सुलझे हुए विचारों वाले लोगों द्वारा ही नियंत्रित किया जा सकता है; और हमारे भीतर सर्वदा अपने सम्बन्धियों तथा पड़ोसियों के साथ झगड़े चलते ही रहते हैं, जो गलत तर्कों द्वारा समर्थित होते हैं।

अपने लघु, परन्तु अद्भुत ग्रन्थ – 'ईसानुसरण' में टॉमस ए कैम्पिस कहते हैं – ''जब कोई व्यक्ति अपने भूलों के लिये दूसरों के समक्ष विनम्र होता है, तो वह दूसरों को सन्तुष्ट कर लेता है और इस प्रकार वह उनके साथ सामंजस्य बैठा लेता है, जिन्हें वह नाराज कर बैठा है। सर्व-शक्तिमान ईश्वर विनम्र व्यक्ति की रक्षा करते हैं, दिलासा देते हैं; वे स्वयं उसके प्रति द्रवित होते हैं और उस पर प्रभूत कृपा करते हैं।''

छठवीं या सातवीं शताब्दी के दौरान जन्मे डेजर्ट फादर्स (मरुभूमि के पादरियों) में से एक – सेंट अब्बा डोरोथियस ने 'आध्यात्मिक प्रशिक्षण विषयक निर्देश' नामक ग्रन्थ में क्रोध पर विजय पाने में विनम्रता को परम उपयोगी माना है।

विनम्रता न स्वयं क्रोध करती है और न किसी को क्रोध का पात्र बनाती है। विनम्रता ईश्वर की कृपा को आत्मा की ओर आकृष्ट करती है; और जब ईश्वर की कृपा आती है, तो जीवात्मा को इन दो दुखद उत्तेजनाओं से मुक्त कर देती है। क्योंकि अपने पड़ोसी पर क्रोध करना या उसके क्रोध का पात्र बनना – इससे बढ़कर दुखद और क्या हो सकता है ! तो विनम्रता क्या दो ही उत्तेजनाओं से व्यक्ति को मुक्त करती है? नहीं, यह जीव को प्रत्येक उत्तेजना और प्रत्येक प्रलोभन से मुक्त कर देती है।

क्रोध पर विजय पाने में विनम्रता का इतना अधिक महत्त्व है कि हमारे लिये यह सीखना आवश्यक है कि उसे कैसे प्राप्त किया जाय। सेंट अब्बा डोरोथियस अपने 'आध्यात्मिक प्रशिक्षण विषयक निर्देश' नामक ग्रन्थ में कहते हैं –

एक प्रसिद्ध व्यक्ति ने एक बार बताया था कि मनुष्य किस प्रकार विनम्र बनता है, ''विनम्रता का अर्थ है स्वयं को अन्य सभी से निकृष्ट मानते हुए पूरे मन-प्राण से शारीरिक परिश्रम करना और उसके साथ ही निरन्तर ईश्वर से प्रार्थना करना। शारीरिक परिश्रम से मन में विनम्रता आती है, क्योंकि शरीर के साथ ही मन भी कष्ट उठाता है और शरीर के साथ जो कुछ भी होता है, उसमें भाग लेता है। **शारीरिक श्रम शरीर को विनम्र बनाता है और उसके साथ ही मन भी विनम्र होता जाता है।** स्वयं को दूसरों से छोटा समझना विनम्रता का विशेष लक्षण है; और व्यक्ति यदि अभ्यास करके इसे अपना स्वभाव बना सके, तो अपने आप ही उसमें विनम्रता को स्थापित करके अहंकार को उखाड़ डालता है। क्योंकि यदि कोई व्यक्ति स्वयं को सबकी अपेक्षा हीन समझता है, तो वह भला कैसे दूसरों के समक्ष स्वयं को बढ़ा-चढ़ा कर प्रस्तुत करेगा? या फिर भला कैसे दूसरों पर दोषारोपण करेगा या उन्हें नीचा दिखायेगा? इसी प्रकार निरन्तर प्रार्थना का अभ्यास स्पष्टत: आध्यात्मिक अहंकार का विरोधी है। क्योंकि यह बात स्पष्ट है कि व्यक्ति यह समझ कर विनम्र हो जाता है कि वह ईश्वर की कृपा के बिना कोई भी गुण अर्जित नहीं कर सकता; और तब वह निरन्तर प्रार्थना करता हुआ ईश्वर से दया की याचना करता रहता है। जो व्यक्ति इस प्रकार निरन्तर प्रार्थना करता रहता है; और यदि उसे कुछ उपलब्धि होती है, तो इसके फलस्वरूप उसके मन में कोई अहंकार नहीं आता। चूँकि वह अपनी सारी उपलब्धियों के लिये ईश्वर को ही जिम्मेदार ठहराता है, इसलिये इसके लिये वह अपनी शक्तियों को श्रेय नहीं दे सकता। वह निरन्तर ईश्वर को धन्यवाद देता रहता है और उनकी सहायता से वंचित होने के भय से निरन्तर उन्हें पुकारता रहता है। इस प्रकार वह विनम्रतापूर्वक प्रार्थना करता है और प्रार्थना के द्वारा उसमें विनम्रता आती है। ज्यों-ज्यों उसमें गुणों का विकास होता है, त्यों-त्यों उसे सहायता प्राप्त होती जाती है और

उसकी विनम्रता में वृद्धि होती जाती है।''

सभी लोगों के मन – सत्त्व, रजस् तथा तमस् – इन तीन मूलभूत तत्त्वों के विभिन्न मात्राओं में सम्मिश्रण से निर्मित हुए हैं; और अज्ञात पूर्व-संस्कारों द्वारा परिचालित तथा नियंत्रित होने के कारण उनकी अभिव्यक्ति एक समान नहीं होती। अत: विभिन्न व्यक्तियों के क्रोध के कारण तथा उसके रूप भिन्न-भिन्न होते हैं। परन्तु विनम्रता का चिकित्सकीय प्रभाव सार्वजनीन है। विनम्रता सर्वत्र, सर्वदा तथा सभी के लिये क्रोध के लिये एक प्रतिरोधक का कार्य करती है। विनम्रता का गुण, पहले तो क्रोध पर नियंत्रण करने में और तदुपरान्त उस पर विजय पाने में सहायता करता है।

सेंट अब्बा डोरोथियस की शिक्षाओं में क्रोध का सूक्ष्म विश्लेषण किया गया है। उन्होंने बताया है कि इसमें कैसे वृद्धि होती है और इस पर कैसे विजय पाया जा सकता है। यद्यपि निम्नलिखित उद्धरण संन्यासियों के लिये लिखा गया है, तथापि चूँकि क्रोध की उत्पत्ति सबमें समान रूप से ही होती है, अत: ये शिक्षाएँ उन सभी के लिये प्रासंगिक हैं, जो क्रोध पर विजय पाना चाहते हैं। सेंट डोरोथियस कहते हैं –

''भाइयों के बीच आपस में बारम्बार कठिनाइयाँ तथा कटुताएँ उत्पन्न होती हैं, परन्तु आम तौर पर वे सर्वदा शीघ्र ही इन मतभेदों को सल्टा लेते हैं और शान्त हो जाते हैं। परन्तु कभी-कभी ऐसा होता है कि झुककर समझौता कर लेने के बावजूद कोई साधक अपने किसी भाई से आहत होने का भाव बनाये रखे और उसके विरोधी विचारों को पकड़े रहे। यह क्रोध का ही भाव है और इस पर विशेष ध्यान देने की जरूरत है, ताकि कहीं यह भाव स्थायी होकर विनाश का कारण न बन जाय। किसी व्यक्ति पर नाराज होने के बाद, यदि उसके साथ तत्काल ही शान्ति स्थापित नहीं कर लिया जाता है, तो उसने क्रोध पर तो नियंत्रण कर लिया है, परन्तु नाराजगी को दूर करने के लिये कुछ भी नहीं किया है और इस कारण वह अपने भाई के प्रति शिकायत का ही भाव बनाये रहता है। क्योंकि नाराजगी एक चीज है और क्रोध दूसरी चीज। क्षुब्ध होना एक बात है और अशान्त होना दूसरी बात। विचारों का आना-जाना तथा उनमें हलचल अशान्ति का लक्षण है, जो हृदय को क्षुब्ध तथा उत्तेजित कर देता है। नाराजगी अपमान करनेवाले व्यक्ति के विरुद्ध प्रतिकार-युक्त विद्रोह का भाव है, जो अनुचित विश्वास उत्पन्न करता है। यदि इच्छा हो, तो नाराजगी को क्रोध में परिणत होने के पूर्व ही नष्ट किया जा सकता है। परन्तु यदि आपने स्वयं को उत्तेजित तथा नाराज रखना जारी रखा, तो आप एक ऐसे व्यक्ति के समान होंगे जो अग्नि में ईंधन डालकर क्रोध रूपी ज्वाला तैयार करता है। दबा हुआ क्रोध क्रमश: कड़वाहट में परिणत हो जाता है; और तब व्यक्ति को उससे मुक्त होने के लिये अत्यन्त कठोर प्रयास करना पड़ता है।

''घास का एक छोटा-सा तिनका उखाड़ना एक बात है और एक विशाल वृक्ष को निर्मूल करना भिन्न बात है।

''जो व्यक्ति अपने शत्रु के लिये प्रार्थना करता है, उसके मन में कोई कड़वाहट नहीं रह जाता।''

७. क्रोध को जीतने के लिये तैयारियाँ

सहसा उठनेवाले क्रोध से लड़ने की विद्या

अपने आन्तरिक जीवन को थोड़ा व्यवस्थित करने और इस प्रकार क्रमश: क्रोध पर विजय पाने के लिये कुछ निर्दिष्ट उपायों का अभ्यास करना अनिवार्य है। यदि हम यह मानकर चलें कि संसार तथा इसका परिवेश उक्त अभ्यास के लिये अनुकूल होगा, तो यह सत्कार्य तीव्र गति से अग्रसर हो सकेगा। तथापि जीवन सर्वदा सहज नहीं होता और फिर हमारे भीतर ऐसे छिपे हुए अज्ञात अप्रस्फुटित भाव विद्यमान हैं, जो दुर्घटनावश प्रज्वलित या विस्फोटित हो सकते हैं। दुर्घटना की सम्भावना होने पर पूर्व-तैयारी में ही बुद्धिमत्ता है। मान लीजिये कि आपके मित्रतापूर्ण व्यवहार को अनपेक्षित रूप से कठोर तथा आक्रामक तेवर का सामना करना पड़े और आपको लगे कि आपका पारा चढ़ रहा है, तो आप उसका उसी प्रकार से प्रत्युत्तर देने से स्वयं को कैसे बचा सकेंगे? यदि ऐसी दुर्घटना का पूर्वानुमान हो, तो हम अनपेक्षित आचरण का सामना करने को तैयार रहेंगे। इसके साथ ही हमें १६वीं शताब्दी के एक इटालियन पादरी लोरेंजो स्कुपोली द्वारा बताये गये कुछ सरल तकनीकों का अभ्यास कर लेना चाहिये। अपने Unseen Warfare (अदृश्य युद्ध) नामक ग्रन्थ में वे कहते हैं –

''अपनी ऐसी दिनचर्या ही बना लो कि सुबह जब तुम घर में चुपचाप बैठो, तो अपने मन में पूरे दिन के – अनुकूल तथा प्रतिकूल – दोनों ही प्रकार के सम्भावित अवसरों पर विचार करो और कल्पना करो कि उस समय कैसी उत्तेजनाएँ उत्पन्न हो सकती हैं और पहले से ही अपने को तैयार करो कि उनका उदय होने पर कैसे उन्हें बढ़ने का अवसर दिये बिना ही तुम उन्हें कुचल डालोगे। यदि तुम ऐसा करो, तो तुम उत्तेजना के किसी भी हलचल से सहसा विचलित नहीं किये जा सकोगे, बल्कि क्रोध द्वारा तंग किये जाने या काम के द्वारा प्रलोभित हुए बिना सर्वदा उनका सामना करने के लिये प्रस्तुत रहोगे। जब कभी तुम्हें बाहर जाना हो, कई स्थानों पर जाकर लोगों से मिलना हो, जो तुम्हारे मन में राग या द्वेष उत्पन्न कर सकते हैं, विशेषकर उस समय क्या होने

की सम्भावना है, इस पर पहले से ही विचार करने का अभ्यास होना चाहिये। पहले से तैयार रहने पर, प्रथमत: तो तुम उससे सहज ही बच सकोगे और द्वितीयत: यदि उत्तेजना की कोई तरंग उठी भी, तो वह तुम्हारे सिर के ऊपर से होती हुई चली जायेगी या फिर तुम्हें एक दुर्बल नौका के समान दूर तक धकेल देने के स्थान पर, चट्टान की भाँति तुमसे टकरा कर वहीं ठहर जायेगी।''

यह तैयारी सामान्य तथा अपेक्षित परिस्थिति में तो ठीक है, परन्तु मान लो यह असफल हो जाती है और उत्तेजना तुम पर सहसा सवार हो जाती है, तब क्या करना होगा?

''ऐसी परिस्थिति में ऐसा करना चाहिये – अपने मन में ज्योंही कोई उत्तेजक भाव उठता हुआ महसूस हो, उसे अपनी इच्छा-शक्ति से तत्काल दबा दो, अपने मन की सजगता के साथ अपने हृदय में प्रविष्ट हो जाओ और हर सम्भव उपाय से उत्तेजना को हृदय में प्रविष्ट होने से रोको। सजग रहो और जो कुछ तुम्हें क्षुब्ध करता है, उससे अपने हृदय को क्षुब्ध होने से रोको, या जो कुछ तुम्हें प्रलोभित करता है, उससे अपने हृदय को प्रलुब्ध होने से रोको। इसके बावजूद यदि इनमें से कोई तुम्हारे मन में आ जाय, तो पहले उसे बाहर ही रोको; उसे वाणी, दृष्टि या भंगिमा के द्वारा प्रकट मत करो।''

मन को कैसे हृदय में डुबकी लगाने को प्रेरित किया जाय, इसे एक सच्चे आचार्य से सीखना होगा। वैसे तो इसके अनेक उपाय हैं, परन्तु यहाँ जो उद्धरण दिया जा रहा है, वह अद्वैतवादी उपाय है।

रमण महर्षि से एक बार उनके एक शिष्य ने ठीक यही प्रश्न पूछा था – ''मन को हृदय में कैसे डुबाया जाय?''

इस पर महर्षि बोले – ''इस समय मन स्वयं को ब्रह्माण्ड में विभिन्न रूपों में बिखरा हुआ पाता है। यदि अनेकता का उदय न हो, तो वह अपने मूल अर्थात् हृदय में रहता है। हृदय में डूबने का अर्थ है बिना विक्षेप के रहना। केवल हृदय मात्र की सत्ता है। मन केवल अस्थायी अवस्था में है। आत्मभाव से रहने का तात्पर्य है हृदय में प्रविष्ट रहना।

''व्यक्ति देह से तादात्म्य कर लेने के फलस्वरूप ही वह स्वयं को जगत् को पृथक देखता है। अपनी मूल अवस्था से भटक जाने तथा उससे सम्पर्क-सूत्र के टूट जाने के कारण ही मिथ्या तादात्म्य का उदय होता है। जब उसे इन मिथ्या धारणाओं से निवृत्त होकर पीछे लौटने और पुन: अपने मूल स्रोत – आत्मभाव में रहने का निर्देश दिया जाता है, तब प्रश्नों का *(और इस कारण क्रोध का भी)* उदय नहीं होगा।

''सारे शास्त्रों का उद्देश्य केवल इतना ही है कि मनुष्य अपने मूल स्रोत की ओर वापस लौटे। उसे किसी नवीन वस्तु की प्राप्ति नहीं करनी है। उसे केवल भ्रान्त धारणाओं तथा निरर्थक संकल्पों को छोड़ना है। ऐसा न करके, मनुष्य विचित्र तथा रहस्यमय वस्तुओं को प्राप्त करने का प्रयास करता है, क्योंकि उसे लगता है कि सुख कहीं अन्यत्र है। यही एक भूल है। यदि व्यक्ति आत्मभाव से रहे, तो आनन्द में स्थित रहेगा। शायद वह सोचता है कि शान्त होने से ही आनन्द की अवस्था नहीं प्राप्त हो जाती।

''ऐसा उसके अज्ञान के कारण है। यह खोजना ही एकमात्र अभ्यास है कि 'ये प्रश्न किसके प्रति उदय हो रहे हैं?'

शिष्य ने पूछा – ''कामना, क्रोध आदि पर कैसे नियंत्रण करें?''

महर्षि बोले – ''पता लगाओ कि ये कामनाएँ किसकी हैं? यदि तुम आत्मभाव से रहोगे, तो आत्मा से भिन्न कुछ भी नहीं दिखायी देगा। तब संयम आदि की जरूरत नहीं रहेगी।''

जिस क्रोध को ध्यान देने योग्य नहीं समझा जाता, वह अपने आप ही चला जाता है।

विस्फोटक परिस्थितियों पर विजय पाने के लिये निम्नलिखित उपायों को भी अपनाया जा सकता है –

(१) क्रोध या काम के उत्तेजनापूर्ण गति को निकाल बाहर करने और उसकी जगह पर विपरीत भले विचार लाने के लिये ईश्वर से सहायता की प्रार्थना करना।

(२) ऐसी विनाशकारी उत्तेजनाओं के मूल में स्थित – अपनी रुचियों-अरुचियों, अनुचित आकर्षणों तथा गलत आसक्तियों की जड़ों को काट डालना।

(३) इस उपदेश को याद रखना – ''तुम अपने हृदय में अपने भाई के प्रति घृणा का भाव नहीं रखोगे।''

❖ **(क्रमशः)** ❖
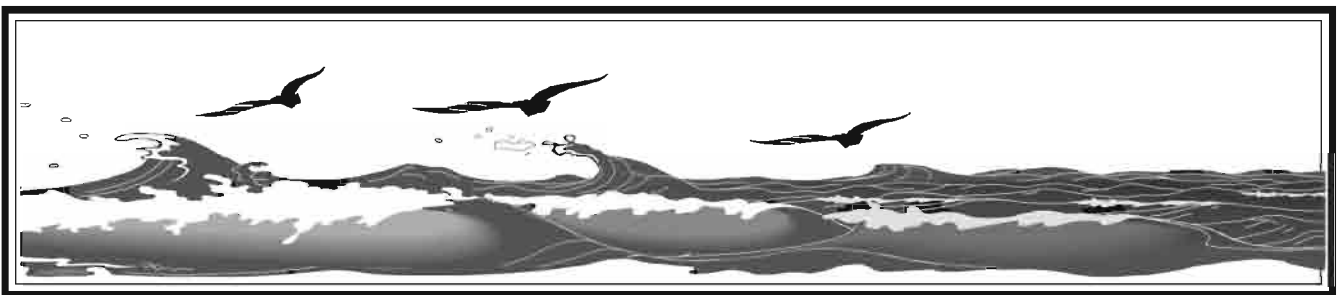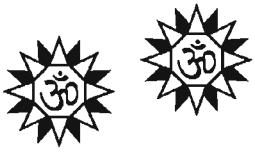
पातञ्जल-योगसूत्र-व्याख्या (१२)
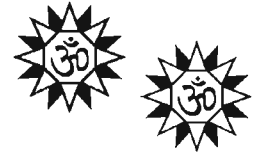
स्वामी प्रेमेशानन्द

(माँ श्री सारदा देवी के वरिष्ठ शिष्य स्वामी प्रेमेशानन्द जी ने १९६२ ई. के फरवरी माह में अपनी अस्वस्थता के दौरान वाराणसी में अपने सेवक को पातञ्जल योगसूत्र पढ़ाया था। इनके पाठों को सेवक एक नोटबुक में लिख लेते थे। बाद में सेवक – स्वामी सुहितानन्द जी ने उन पाठों को सुसम्पादित कर एक बँगला ग्रन्थ के रूप में प्रकाशित कराया। 'विवेक-ज्योति' में प्रकाशनार्थ पातञ्जल योग जैसे गूढ़ विषय पर इस सहज-सरल व्याख्या का हिन्दी अनुवाद रायपुर आश्रम के स्वामी प्रपत्त्यानन्द ने किया है। – सं.)

सोपक्रमं निरुपक्रमं च कर्म
तत्संयमादपरान्तज्ञानमरिष्टेभ्यो वा ।।२३ ।।

– कर्म दो प्रकार के होते हैं – पहला शीघ्र फल प्रदान करता है और दूसरा विलम्ब से फल देता है। इसके ऊपर या 'अरिष्ट' नामक मृत्यु के लक्षणों के ऊपर संयम करने से योगी शरीर-त्याग के समय को जान सकते हैं।

व्याख्या – मनुष्य के चित्त में पूर्व जन्म के कर्मों के संस्कार संचित रहते हैं। इस जन्म में जिसका भोग करने के लिये वह जन्म लेता है, उसे प्रारब्ध कर्म कहते हैं, योगीगण यह समझ सकते हैं कि प्रारब्ध-कर्म कितना क्षय हुआ है, कितना शेष है और कितने दिन में वह समाप्त हो जायेगा। उसके द्वारा वे देह-त्याग का निश्चित समय अवश्य ही जान सकते हैं। 'अरिष्ट' नामक और भी बहुत से लक्षण हैं, उसे देखकर भी योगी मृत्यु-काल का निर्णय कर सकते हैं।

मैत्र्यादिषु बलानि ।। २४ ।।

– मैत्री आदि (सुख-दुख, पुण्य-पाप) गुणों के ऊपर संयम करने से योगी में इन गुणों का उत्कर्ष, विकास होता है।

बलेषु हस्तिबलादीनि ।।२५ ।।

– हाथी आदि प्राणियों के शक्ति के ऊपर संयम करने से योगी को उन प्राणियों के समान बल मिलता है।

प्रवृत्यालोकन्यासात्
सूक्ष्मव्यवहितविप्रकृष्टज्ञानम् ।।२६ ।।

– हृदय में स्थित ज्योति के ऊपर संयम करने से सूक्ष्म, व्यवहित अर्थात् अन्तराल में विद्यमान, (दो वस्तुओं के बीच में स्थित) और दूर स्थित वस्तुओं का ज्ञान होता है।

भुवनज्ञानं सूर्ये संयमात् ।।२७ ।।

– सूर्य में संयम करने से सम्पूर्ण जगत् का ज्ञान होता है।

चन्द्रे ताराव्यूहज्ञानम् ।।२८ ।।

– चन्द्रमा में संयम करने पर ताराओं का ज्ञान होता है।

ध्रुवे तद्गतिज्ञानम् ।।२९ ।।

– ध्रुवतारा में चित्त-संयम करने पर ताराओं की गति का ज्ञान होता है।

नाभिचक्रे कायव्यूह ज्ञानम् ।।३० ।।

– नाभिचक्र में संयम करने पर शरीर-निर्माण यानि शारीरिक संरचना का ज्ञान होता है।

कण्ठकूपे क्षुत्पिपासा निवृत्तिः ।।३१ ।।

– कण्ठ-नली में संयम करने पर भूख और प्यास की निवृत्ति होती है।

कूर्मनाड्यां स्थैर्यम् ।।३२ ।।

– कूर्म नाड़ी में संयम करने पर शरीर स्थिर हो जाता है।

मूर्द्धज्योतिषि सिद्धदर्शनम् ।।३३ ।।

– मस्तक के ऊपर स्थित ज्योति में संयम करने पर सिद्ध-पुरुषों के दर्शन होते हैं।

प्रातिभाद्वा सर्वम् ।।३४ ।।

– अथवा प्रतिभाशक्ति के द्वारा समस्त ज्ञान होता है, इससे योगी सब कुछ जान सकते हैं।

हृदये चित्तसंवित् ।।३५ ।।

– हृदय में चित्त-संयम करने पर मन के विषय में ज्ञान होता है।

व्याख्या – योग-शक्ति की सहायता से शरीर में असाधारण शक्ति-संचय किया जा सकता है। निकट, अन्तराल और दूरस्थ सभी वस्तुयें ज्ञात हो सकती हैं। त्रिभुवन की सभी वस्तुयें ज्ञात हो सकती हैं। आकाश में स्थित ताराओं की गति के विषय में जाना जा सकता है। अपने शरीर के विभिन्न अंगों, स्थानों पर मन का संयम कर संयमित मन की सहायता से (शारीरिक संरचना को) शरीर की सभी अवस्थाओं को जाना जा सकता है। भूख-प्यास को बन्द किया जा सकता है। पूरे शरीर को स्थिर रखा जा सकता है। मनुष्य के शरीर से एक प्रकार की ज्योति निकलती है, जिसे योगी लोग देख पाते हैं। मस्तक से जो ज्योति निकलती है, उसमें मन के संयम करने पर 'सिद्ध' नामक देव-पुरुषों के दर्शन होते हैं।

जब मन क्रमश: सूक्ष्म-से-सूक्ष्मतम अवस्था में पहुँच जाता है, तब इस विषय में एक ऐसी प्रतिभा का विकास होता है, जिसकी सहायता से योगी, जो कुछ देखना चाहते हैं, उसे देख पाते हैं। अपने हृदय में मन को एकाग्र करने पर चित्त की सभी अवस्थायें ज्ञात हो जाती हैं।

सत्त्वपुरुषयोरत्यन्ता-संकीर्णयोः प्रत्ययाविशेषाद् भोगः परार्थत्वात् अन्यस्वार्थसंयमात् पुरुषज्ञानम् ।।३६ ।।

– पुरुष या चिदात्मा और सत्त्व या बुद्धि की प्रतीति के अभाव में ही भोग होता है, यह भोग पुरुष के लिये है। बुद्धि की दूसरी अवस्था का नाम स्वार्थ है, इसके ऊपर संयम करने से पुरुष या आत्मा का ज्ञान होता है।

ततः प्रातिभश्रावण-वेदनादर्शाऽऽस्वाद-वार्त्ता जायन्ते ।।३७ ।।

– उससे प्रातिभ या अलौकिक श्रावण या दिव्य शब्द-श्रवण, वेदना या दिव्य स्पर्श की अनुभूति, आदर्श या दिव्य रूप-दर्शन, दिव्य रसास्वाद एवं वार्ता या दिव्य घ्राण या गन्ध की प्राप्ति होती है।

ते समाधावुपसर्गा व्युत्थाने सिद्धयः ।।३८ ।।

– ये (प्रतिभादि सिद्धियाँ) समाधि के मार्ग में विघ्न उत्पन्न करती हैं, लेकिन सांसारिक क्षेत्र में सिद्धि-प्राप्ति का उपाय हैं अर्थात् इनसे सांसारिक कार्यों में सफलता मिलती है।

व्याख्या – ऐसा लगता है कि जीवन का तात्पर्य है — मात्र बहुत से कर्म-भोग करना। जीव अपने मूल स्वरूप को भूलकर बुद्धि के साथ अभेद होकर, एक होकर, 'मैं बुद्धि हूँ', ऐसा अनुभव करता है। सभी क्रियायें बुद्धि की प्रेरणा से ही सम्पन्न होती हैं। किन्तु जीवात्मा सोचते हैं कि वे ही सब कर रहे हैं। इसीलिये कर्म के सभी परिणाम (कर्मफल) को वही भोग कर रहे हैं। ब्रह्मविद्या का श्रवण-मनन करते-करते, पुरुष के सम्बन्ध में उनकी थोड़ी धारणा होने पर, जब वे 'मैं पुरुष हूँ' ऐसी धारणा कर इसी में मन का संयम करते हैं, तब वे ठीक-ठीक समझ पाते हैं कि उनके भोग के लिये ही बुद्धि सब कार्य करती है।

इस ज्ञान के सुस्पष्ट होने पर योगी सूक्ष्म देह में (बाह्य इन्द्रियों के द्वारा नहीं) दिव्य रूप-रस-शब्द-गन्ध और स्पर्श का अनुभव कर आनन्द प्राप्त करते हैं। किन्तु ये सभी सिद्धियाँ और उनके अनुभव मन के संयम को नष्ट कर देते हैं। केवल व्युत्थित अवस्था में ही ये योग-सिद्धियाँ द्रष्टा को आनन्द प्रदान करती हैं।

बन्धकारणशैथिल्यात् प्रचारसंवेदनाच्च चित्तस्य परशरीरावेशः ।।३९ ।।

– जब चित्त के बन्धन का कारण दूर हो जाता है और प्रचार-संवेदन अर्थात् शरीर में स्थित नाड़ियों का ज्ञान हो जाता है, तब योगी दूसरे के शरीर में भी प्रवेश कर सकते हैं।

व्याख्या – बहुत दिनों तक मन को संयमित रखने पर संसार का आकर्षण शिथिल हो जाता है। तब योगी स्पष्ट रूप से देखते हैं कि स्थूल शरीर और सूक्ष्म शरीर पूर्णतः पृथक हैं। उस समय वे चाहने पर अपने शरीर से बाहर आकर दूसरे शरीर में प्रवेश कर सकते हैं। भगवान शंकराचार्य ने ऐसा ही किया था।

उदानजयाज्जल-पङ्ककण्टकादिष्वसङ्ग उत्क्रान्तिश्च ।।४० ।।

– उदान नामक स्नायु-प्रवाह का जय कर लेने पर, संयम करने पर योगी जल में नहीं डूबते हैं, कीचड़ में नहीं धसते हैं, काँटे के ऊपर चल सकते हैं और इच्छा-मृत्यु की अवस्था को प्राप्त करते हैं

व्याख्या – समाधि योग में प्राण की उदान-क्रिया को वश में करके योगी जल के ऊपर या काँटों के ऊपर चल सकते हैं। उदान क्रिया की सहयाता से योगी स्वेच्छा मात्र से देह का त्याग कर सकते हैं।

समान जयात्प्रज्वलनम् ।।४१ ।।

– समान नामक प्राण-प्रवाह को वशीभूत कर लेने पर योगी ज्योति से आवृत रहता है।

व्याख्या – सामान नामक प्राण-क्रिया को वश में कर लेने पर शरीर में से ज्योति प्रकाशित करने की क्षमता योगी में आती है। 'श्रीरामकृष्णलीलाप्रसंग' में उल्लिखित योगी गिरिजा के शरीर में से ज्योति निकलती थी।[२]

श्रोत्राकाशयोः सम्बन्धसंयमाद् दिव्यं श्रोत्रम् ।।४२ ।।

– कान और आकाश में जो सम्बन्ध है, उस पर संयम करने से दिव्य-कर्ण प्राप्त होता है।

व्याख्या – जब हमलोग कोई शब्द सुनते हैं, तब आकाश- शरीर में एक तरंग उठती है, स्पन्दन होता है और वह हमारे कान में आकर आघात करता है। हमारी श्रवणेन्द्रिय आकाश-तत्त्व से निर्मित है। आकाश में मन को एकाग्र करने पर अनेकों प्रकार के दिव्य शब्द सुनाई पड़ते हैं।

कायाकाशयोः सम्बन्धसंयमाल्लघुतूल-समापत्तेश्चाकाशगमनम् ।।४३ ।।

– शरीर और आकाश के सम्बन्ध के ऊपर संयम करने पर योगी स्वयं को रूई (कपास) की तरह हल्का करके आकाश-मार्ग में चल सकते हैं।

व्याख्या – हमलोगों का शरीर आकाशतत्त्व से निर्मित है। शरीर और आकाश एक ही वस्तु, तत्त्व है। इस ज्ञान के साथ मन को स्थिर करने पर शरीर को रूई (कपास) की तरह हल्का किया जा सकता है। इससे योगी पक्षी की तरह आकाश में विचरण कर सकते हैं। ❖ (क्रमशः) ❖

२. श्रीरामकृष्ण की कृपा से गिरिजा की यह सिद्धि नष्ट हो गयी थी।
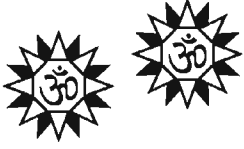
स्वामीजी की अस्फुट स्मृतियाँ

स्वामी शुद्धानन्द

(धन्य थे वे लोग, जिन्होंने स्वामीजी के काल में जन्म लिया तथा उनका पुण्य सान्निध्य प्राप्त किया। उनके प्रत्यक्ष सम्पर्क में आनेवाले अनेक लोगों ने अपनी अविस्मरणीय स्मृतियाँ लिपिबद्ध की हैं, जो विभिन्न पत्र-पत्रिकाओं तथा ग्रन्थों में प्रकाशित हुई हैं। प्रस्तुत संस्मरण अद्वैत आश्रम द्वारा प्रकाशित 'Reminiscences of Swami Vivekananda' ग्रन्थ से गृहीत तथा अनुवादित हुआ है। – सं.)

१८९७ ई. के फरवरी का महीना है। स्वामी विवेकानन्द ने पाश्चात्य देशों में विजय-अभियान चलाने के बाद अभी हाल ही में भारत में पदार्पण किया है। जब से स्वामीजी ने शिकागो की धर्म-महासभा में हिन्दू धर्म की विजय-पताका फहरायी है, तभी से समाचार-पत्रों में उनके बारे में जो कुछ भी प्रकाशित होता है, उसे बड़े आग्रहपूर्वक पढ़ता हूँ। कॉलेज छोड़े दो-तीन वर्ष हो चुके थे और किसी प्रकार से धनोंपार्जन भी नहीं करता हूँ। अत: कभी मित्रों के घर जाकर, या कभी पड़ोस में ही स्थित धर्मतला मुहल्ले में 'इंडियन मिरर' के ऑफिस के बाहर बोर्ड पर लगे उक्त समाचार-पत्र में स्वामीजी-विषयक जो कोई भी समाचार या व्याख्यान प्रकाशित होता है, उसे बड़ी उत्सुकता के साथ पढ़ता हूँ। इस प्रकार, स्वामीजी के भारत में पदार्पण करने के समय से लेकर उन्होंने श्रीलंका या मद्रास में जो कुछ कहा है, प्राय: वह सब कुछ पढ़ चुका हूँ। इसके अलावा मैं आलमबाजार मठ में जाकर उनके गुरुभाइयों और मठ में आने-जाने वाले मित्रों तथा अनुरागियों से भी उनके विषय में बहुत-सी बातें सुन चुका हूँ और सुनता रहता हूँ। बंगवासी, अमृतबाजार, होप, थियोसॉफिस्ट आदि विभिन्न सम्प्रदायों के पत्र-पत्रिकाओं में अपने-अपने भाव के अनुसार – किसी ने कटाक्ष करते हुए, किसी ने उपदेश देते हुए और किसी ने आत्मप्रशंसा करते हुए, उनके विषय में जो कुछ लिखा है, उसका भी प्राय: कुछ बाकी नहीं रह गया है।

आज वे ही स्वामी विवेकानन्द सियालदह स्टेशन पर उतरेंगे और अपनी जन्मभूमि कोलकाता नगरी में पदार्पण करेंगे। आज उन्हें साक्षात् देखकर उनके बारे में पढ़ी तथा सुनी हुई बातों का सत्यापन हो जायेगा, यही सोचकर मैं बड़े सबेरे ही उठकर सियालदह स्टेशन पर जा पहुँचा। इतने सबेरे भी स्वामीजी का स्वागत करने के लिये बहुत-से लोग एकत्र थे। अनेक परिचित लोगों से भेंट हुई। स्वामीजी के विषय में बातचीत होने लगी। मैंने देखा – अंग्रेजी में छपे दो पर्चे बाँटे जा रहे हैं। पढ़कर पता चला कि उनके इंग्लैड और अमेरिका के छात्रों ने उनकी वहाँ से विदाई के अवसर पर उनका गुणगान करते हुए, उनके प्रति कृतज्ञता-सूचक जो दो अभिनन्दन-पत्र प्रदान किये थे, ये वही हैं। क्रमश: दल-के-दल लोग स्वामीजी के दर्शनार्थ आने लगे। प्लेटफार्म लोगों से भर गया। सभी लोग आग्रहपूर्वक एक-दूसरे से पूछ रहे थे – "स्वामीजी के आने में और कितनी देरी है?" सुनने में आया कि वे एक 'स्पेशल ट्रेन' से आयेंगे। आने में अब विलम्ब नहीं है। अब तो गाड़ी की आवाज भी सुनाई दे रही है। धड़धड़ाती हुई ट्रेन ने क्रमश: प्लेटफार्म में प्रवेश किया।

स्वामीजी जिस डिब्बे में सवार थे, वह जहाँ आकर ठहरा, सौभाग्यवश मैं ठीक उसके सामने ही खड़ा था। गाड़ी के रुकते ही मैंने देखा – स्वामीजी खड़े होकर समवेत सभी लोगों को हाथ जोड़े नमस्कार कर रहे हैं। इस एक नमस्कार से ही स्वामीजी ने मेरे हृदय को आकृष्ट कर लिया। उस समय मुझे स्वामीजी की एक झलक मात्र देखने को मिली।

इसके बाद नरेन्द्रनाथ सेन आदि स्वागत-समिति के सदस्यों ने आकर स्वामीजी को ट्रेन से उतारा और कुछ दूर खड़ी एक गाड़ी में बैठाया। अनेक लोग स्वामीजी को प्रणाम करने तथा उनकी चरणधूलि लेने को आगे बढ़े। वहाँ काफी भीड़ हो गयी। इधर दर्शकों के हृदय से स्वयं ही – 'जय स्वामी विवेकानन्द की जय', 'जय श्रीरामकृष्ण देव की जय' – की हर्षध्वनि प्रकट होने लगी। मैं भी पूरे हृदय से उस हर्षध्वनि में योग देते हुए लोगों के साथ आगे बढने लगा।

क्रमश: जब हम लोग स्टेशन के बाहर निकले, तो देखा कि बहुत-से युवक स्वामीजी की गाड़ी के घोड़े खोलकर स्वयं ही गाड़ी खींचने को अग्रसर हो रहे हैं। मैंने भी उन लोगों में सम्मिलित होने का प्रयास किया, परन्तु भीड़ के कारण सफल नहीं हो सका। अत: उस प्रयास को छोड़कर थोड़ी दूरी बनाये हुए स्वामीजी की गाड़ी के साथ चलने लगा। स्टेशन पर स्वामीजी के स्वागतार्थ आये हुए एक हरि-नाम-संकीर्तन-दल को भी मैंने देखा था। रास्ते में एक

बैंड बजानेवाले दल को बैंड बजाते हुए स्वामीजी के साथ चलते हुए देखा। रिपन कॉलेज तक का मार्ग विविध प्रकार की पताकाओं और लता, पत्र एवं पुष्पों से सुसज्जित था। गाड़ी आकर रिपन कॉलेज के सामने खड़ी हो गयी।

अब स्वामीजी को भलीभाँति देखने का सुयोग मिला। देखा – वे गाड़ी से मुँह बढ़ाये किसी परिचित से बातें कर रहे हैं। उनका मुख-मण्डल तप्त-कांचन-वर्ण का है, मानो उससे ज्योति निकल रही है; वैसे यात्रा की थकान से मुख थोड़ा कुम्हलाया हुआ है। दो गाड़ियाँ हैं – एक में श्री तथा श्रीमती सेवियर के साथ स्वामीजी बैठे हैं। माननीय चारुचन्द्र मित्र उसी में खड़े होकर हाथ के संकेत से जनता को नियंत्रित कर रहे हैं; दूसरी गाड़ी में गुडविन, हैरिसन (श्रीलंका से स्वामीजी के साथ आये हुए एक अंग्रेज बौद्ध धर्मावलम्बी), जी. जी., किडी तथा आलासिंगा नामक तीन दक्षिण-भारतीय शिष्य और स्वामी त्रिगुणातीतानन्द बैठे हुए हैं।

गाड़ी के थोड़ी देर रुकने के बाद, बहुतों के अनुरोध पर स्वामीजी ने रिपन कॉलेज में प्रवेश किया। वहाँ वे दो-तीन मिनट अंग्रेजी में थोड़ा बोले, फिर लौट आये और गाड़ी में बैठ गये। इसके आगे जूलूस नहीं गया। अब गाड़ी बागबाजार में पशुपति बाबू के घर की ओर चली। मैं भी मन-ही-मन स्वामीजी को प्रणाम करके अपने घर की ओर लौट गया।

* * *

दोपहर को भोजन करने के बाद चाँपातला मुहल्ले में खगेन (स्वामी विमलानन्द) के घर गया। वहाँ से खगेन और मैं उसके एक टमटम में बैठकर पशुपति बोस के घर की ओर चले। स्वामीजी ऊपर के कमरे में विश्राम कर रहे थे, अधिक लोगों को नहीं जाने दिया जा रहा था। सौभाग्यवश अपने परिचित, स्वामीजी के कुछ गुरुभाइयों से हमारी भेंट हो गयी। स्वामी शिवानन्द हमें स्वामीजी के पास ले गये और परिचय देते हुए कहा, ''ये लोग आपके बड़े प्रशंसक हैं।''

स्वामीजी और योगानन्दजी पशुपति बाबू के घर की दूसरी मंजिल पर स्थित एक सुसज्जित बैठकखाने में अगल-बगल की दो कुर्सियों पर बैठे हुए थे। अन्य साधुगण उज्ज्वल गैरिक वस्त्र धारण किये हुए इधर-उधर आ-जा रहे थे। फर्श पर दरी बिछी हुई थी। हम लोग प्रणाम करके उस दरी पर ही बैठ गये। स्वामीजी उस समय योगानन्दजी से बातचीत कर रहे थे। अमेरिका और यूरोप में स्वामीजी ने जो कुछ देखा था, उसी पर चर्चा चल रही थी। स्वामीजी कह रहे थे –

''देख योगेन, जानता है मैंने क्या देखा! – सम्पूर्ण पृथ्वी पर एक महाशक्ति क्रीड़ा कर रही है। हमारे पूर्वजों ने उसको धर्म के क्षेत्र में अभिव्यक्त किया था और आज के पाश्चात्य देशवासी उसी को महा-रजोगुण युक्त कर्म के रूप में अभिव्यक्त कर रहे हैं। वस्तुत: समग्र जगत् में केवल उसी एक महाशक्ति का विभिन्न रूपों में खेल चल रहा है।''

खगेन की ओर देखकर स्वामीजी ने कहा, ''यह लड़का बड़ा दुर्बल दिख रहा है!''

स्वामी शिवानन्द ने उत्तर दिया, ''यह बहुत दिनों से chronic dyspepsia (पुराने अजीर्ण रोग) से पीड़ित है।''

स्वामीजी बोले, ''हमारा बंगाल बड़ा भावुक है न, इसलिये यहाँ इतना dyspepsia (अजीर्ण रोग) होता है।''

कुछ देर बाद हम प्रणाम करके उठे और घर लौट आये।

* * *

स्वामीजी और उनके शिष्य श्री और श्रीमती सेवियर काशीपुर में गोपाल लाल शील के बँगले में निवास कर रहे हैं। स्वामीजी के श्रीमुख से बातें सुनने के लिये मैं अपने विभिन्न मित्रों के साथ कई बार वहाँ गया था। उसकी जो भी बातें याद हैं, अब उन्हीं को बताने की चेष्टा करूँगा।

स्वामीजी के साथ पहली बार साक्षात् वार्तालाप करने का सौभाग्य मुझे उसी उद्यान-भवन के एक कमरे में मिला था। स्वामीजी आकर बैठे हैं, मैं भी जाकर उन्हें प्रणाम करके बैठा; तब वहाँ दूसरा कोई नहीं है। न जाने क्यों, अचानक ही स्वामीजी ने मुझसे पूछा, ''क्या तू तम्बाकू पीता है?''

मैं बोला, ''जी नहीं।''

इस पर स्वामीजी बोले, ''हाँ, कुछ लोग कहते हैं कि तम्बाकू पीना ठीक नहीं; मैं भी छोड़ने की चेष्टा कर रहा हूँ।''

एक अन्य दिन स्वामीजी के पास एक वैष्णव आये हुए थे। स्वामीजी उनके साथ बातें कर रहे हैं। मैं कुछ दूर बैठा हूँ, अन्य कोई नहीं है। स्वामीजी बोले, ''बाबाजी, अमेरिका में मैंने एक बार कृष्ण के बारे में व्याख्यान दिया। उसे सुन कर एक परम सुन्दरी, अगाध सम्पदा की अधिकारिणी युवती अपना सर्वस्व त्यागकर, एक निर्जन द्वीप में जाकर श्रीकृष्ण के ध्यान में उन्मत्त हो गयी।'' इसके बाद स्वामीजी त्याग के विषय में कहने लगे, ''जिन सम्प्रदायों में त्याग-भाव का ज्यादा प्रचार नहीं है, उनमें शीघ्र ही अवनति आ जाती है।''

एक अन्य दिन स्वामीजी के पास गया था। देखा – अनेक लोग बैठे हैं और स्वामीजी एक युवक की ओर उन्मुख होकर बातें कर रहे हैं। युवक बंगाल थियोसॉफिकल सोसायटी के भवन में रहता है। वह कह रहा है, ''मैं कई सम्प्रदायों में जाता हूँ, पर निर्णय नहीं कर पा रहा हूँ कि सत्य क्या है।''

स्वामीजी बड़े स्नेहपूर्ण स्वर में कह रहे थे, ''देखो बेटा, मेरी भी एक दिन तुम्हारी जैसी अवस्था थी, इसलिये भय की क्या बात? अच्छा, जरा बताओ तो कि भिन्न-भिन्न लोगों ने तुमसे क्या-क्या कहा और तुमने क्या-क्या किया?''

युवक कहने लगा, "महाराज, हमारी सोसायटी में भवानी शंकर नामक एक विद्वान् प्रचारक हैं। उन्होंने मुझे बड़े सुन्दर ढंग से समझा दिया कि मूर्तिपूजा के द्वारा आध्यात्मिक उन्नति में विशेष सहायता मिलती है। उसी के अनुसार मैं भी कुछ दिनों तक खूब पूजा-अर्चना करता रहा, परन्तु उससे शान्ति नहीं मिली। तभी एक व्यक्ति ने मुझे उपदेश दिया – 'देखो, मन को बिल्कुल शून्य करने की चेष्टा करो, उससे तुम्हें परम शान्ति मिलेगी।' मैं कुछ दिनों तक वैसा ही करता रहा, पर उससे भी मेरा मन शान्त नहीं हुआ। महाराज, मैं अब भी एक कमरे में, द्वार बन्द करके, जब तक सम्भव है, बैठा रहता हूँ, मगर किसी भी प्रकार शान्ति नहीं मिल रही है। क्या आप बता सकेंगे कि शान्ति कैसे मिलती है?"

स्वामीजी स्नेहपूर्ण स्वर में कहने लगे, "बेटा, यदि तुम मेरी बात मानो, तो पहले तुम्हें अपने कमरे का द्वार खुला रखना होगा। तुम्हारे घर के पास, आस-पड़ोस में कितने ही अभावग्रस्त लोग रहते हैं ! तुम्हें उनकी यथासाध्य सेवा करनी होगी। जो रोगी है, उसके लिये औषधि तथा पथ्य का प्रबन्ध करो और शरीर के द्वारा उसकी सेवा-शुश्रूषा करो। जो भूखा है, उसे भोजन कराओ। तुमने तो इतनी पढ़ाई की है, इसलिये जो अपढ़ है, उसे मौखिक रूप से जितना भी सम्भव हो, समझाओ। बेटा, यदि तुम मेरी सलाह मानो, तो इसी प्रकार लोगों की यथासाध्य सेवा करो और यदि कर सके, तो तुम्हें मन की शान्ति मिल जायेगी।"

युवक बोला, "अच्छा महाराज, मान लीजिये कि मैं किसी रोगी की सेवा करने गया, परन्तु उसके लिये स्वयं सारी रात जगे रहने, समय से भोजन न करने और अधिक परिश्रम के कारण यदि मैं ही रोग से ग्रस्त हो जाऊँ तो?"

स्वामीजी अब तक उस युवक के साथ स्नेहपूर्ण स्वर में सहानभूतिपूर्वक बातें कर रहे थे। इस अन्तिम उक्ति से ऐसा लगा कि वे थोड़े नाराज हुए। वे बोल उठे, "देखो जी, रोगी की सेवा करने जाने पर तुम स्वयं रोगी हो जाने की आशंका कर रहे हो, परन्तु तुम्हारी बातचीत सुनकर तथा तुम्हारा हावभाव देखकर मुझे तो ऐसा लगता है – और जो लोग यहाँ उपस्थित हैं, वे भी भलीभाँति समझ रहे हैं कि तुम ऐसे किसी रोगी की सेवा कदापि नहीं करोगे, जिससे तुम्हें खुद को ही रोग लग जाय।" उस युवक के साथ और कोई विशेष बातचीत नहीं हुई।

एक अन्य दिन स्वामीजी की मास्टर महाशय[१] से बातें हो रही थीं। मास्टर महाशय कह रहे थे, "देखो, तुम जो दया, परोपकार या जीव-सेवा की बातें करते हो, वे तो माया के राज्य की बातें हैं। जब वेदान्त-मत में मानव का चरम लक्ष्य मुक्ति-लाभ और सम्पूर्ण माया-बन्धन को काट डालना है, तो फिर इन सब माया के कार्यों में लिप्त होकर लोगों को उन विषयों का उपदेश देने से क्या लाभ?"

स्वामीजी ने बिना सोचे तत्काल उत्तर दिया, "मुक्ति भी क्या माया के अन्तर्गत नहीं है? आत्मा तो नित्यमुक्त है, फिर उसकी मुक्ति के लिये प्रयास कैसा?"

मास्टर महाशय मौन रह गये।

टॉमस-ए-केम्पिस द्वारा रचित Imitation of Christ (ईसा-अनुसरण) ग्रन्थ का प्रसंग उठा। संसार त्यागने से कुछ काल पूर्व स्वामीजी इस ग्रन्थ की विशेष रूप से चर्चा किया करते थे और वराहनगर मठ में रहते समय उनके अन्य गुरुभाई भी उन्हीं के समान इसको साधना में विशेष सहायक मानकर, सर्वदा इस पर चर्चा किया करते थे। स्वामीजी इस ग्रन्थ के इतने अनुरागी थे कि उन्होंने इसका एक सुन्दर अनुवाद करते हुए एक प्रस्तावना के साथ 'ईसानुसरण' नाम से समकालीन 'साहित्य-कल्पद्रुम' नामक मासिक में उसका प्रकाशन भी आरम्भ कर दिया था।[२] उपस्थित लोगों में से एक ने, शायद यह जानने के लिये कि इस समय स्वामीजी का उस ग्रन्थ के प्रति क्या विचार है, उस ग्रन्थ में प्रदत्त दीनता के उपदेश का प्रसंग उठाकर बोले, "स्वयं को इस प्रकार अत्यन्त हीन समझे बिना आध्यात्मिक उन्नति कैसे हो सकती है?" सुनकर स्वामीजी कहने लगे, "हम लोग हीन कैसे हो सकते हैं? हमारे लिये अन्धकार कहाँ? हम तो ज्योति के राज्य में निवास करते हैं, हम ज्योति की सन्तान हैं !"

उनके इस उत्तर से हम समझ गये कि स्वामीजी उक्त ग्रन्थ में बताये गये इन प्रारम्भिक साधन-सोपानों को पार करके अनुभूति की कितनी उच्च भूमि में पहुँच चुके हैं !

हम विशेष रूप से देखते थे कि संसार की अत्यन्त सामान्य घटनाएँ भी उनकी तीक्ष्ण दृष्टि से बच नहीं सकती थीं। वे उन घटनाओं की सहायता से भी उच्च धर्मभावों का प्रचार करने की चेष्टा करते थे।

एक दिन दक्षिणेश्वर से श्रीरामकृष्ण के भतीजे श्री रामलाल चट्टोपाध्याय स्वामीजी से मिलने आये। उन्हें मठ के पुराने संन्यासी 'रामलाल दादा' कहकर सम्बोधित करते थे। स्वामीजी ने एक कुर्सी मँगाकर उनसे बैठने का अनुरोध किया और स्वयं टहलने लगे। श्रद्धाभिभूत दादा थोड़े संकुचित होकर कहने लगे, "आप बैठिये, आप बैठिये।" पर स्वामीजी उन्हें भला कैसे छोड़नेवाले थे ! बहुत आग्रह करके उन्होंने दादा को कुर्सी पर बिठाया और स्वयं टहलते हुए कहने लगे – **गुरुवत् गुरुपुत्रेषु** – गुरु के पुत्र तथा सम्बन्धियों के साथ गुरु जैसा ही व्यवहार करना चाहिये। ❖ **(क्रमशः)** ❖

१. 'श्रीरामकृष्ण-वचनामृत' ग्रन्थ के लेखक श्री महेन्द्रनाथ गुप्त ('म')

२. द्र. 'विवेकानन्द-साहित्य', (सं. १९६३) खण्ड ७, पृ. ३३८

स्नेह का सूत्र

रामेश्वर टांटिया

बात शायद बीसवीं शताब्दीं के शुरू की है। राजस्थान के किसी कस्बे में राधेश्याम और रामस्वरूप दो सगे भाई थे। सम्पन्न परिवार था। व्यापार और धन-दौलत के अतिरिक्त दो-तीन गाँवों की जमींदारी थी। जमींदारी और व्यापार के सब काम को छोटा भाई राधेश्याम सँभालता था। बड़े भाई के जिम्मे गाँव की पंच-पंचायती, अपना धर्मादा खाते का काम और उन्हें परिवार वालों तथा पड़ोसियों की विभिन्न समस्याओं का समाधान करना पड़ता था। दोनों भाइयों के प्रेम को देखकर लोग उन्हें राम-लक्ष्मण की जोड़ी बताते थे। उन दोनों के बीच में रामस्वरूप के केवल एक ३ वर्ष का लड़का था। बच्चा अधिकतर अपनी चाची के ही पास रहता था। रात में भी उसी के साथ सोता था। कभी-कभार उसकी माँ ले लेती, तो जोर-जोर से रोने लग जाता था। वह हंस कर कहती – ''छोटी बहू, तुमने किशन पर टोना कर दिया है।''

वास्तव में, वह टोनों का युग था। राधेश्याम की पत्नी सन्तान प्राप्ति के लिये नाना प्रकार के जप-तप, देवी-देवताओं की पूजा आदि करती थी।

एक बार बालक किशन बीमार पड़ा। लगातार ज्वर रहने से खूब दुबला हो गया। वैद्य-डॉक्टरों के उपचारों के बावजूद बीमारी बढ़ती गई। पड़ोस की एक महिला ने बड़ी बहू को भड़काया कि तुम्हारी देवरानी बाँझ है इसलिये उसने बच्चे पर टोना कर दिया है। वैसे वह देवरानी को बड़ा प्यार करती थी। दोनों की आयु में काफी अन्तर था। वही पसन्द करके उसे घर की बहू बनाकर लायी थी। पर दुर्भाग्य से उस दिन उसने यह अनहोनी बात सच मान ली।

पत्नी की बातों में आकर रामस्वरूप ने दूसरे दिन छोटे भाई को बुलाकर बहुत बुरा-भला कहा। क्रोध में मनुष्य की मति मारी जाती है। उसने यहाँ तक कह दिया कि तुम दोनों चाहते हो कि बच्चा न रहे तो सारी सम्पत्ति तुम्हें मिल जाये।

राधेश्याम बड़े भाई को पिता-सम मानता था। उसके सामने कभी सिर उठाकर बात भी नहीं की थी। पर सहसा ऐसा लांछन सुनकर वह सुबक-सुबक कर रोने लगा। बोला – भैयाजी, इतना बड़ा कलंक लेकर अब हम किस मुँह से यहाँ रह सकेंगे? थोड़ी देर बाद स्वस्थ होकर बड़े भाई के पैरों में गिर कर कहा कि हम आज ही नगर छोड़कर गाँव के घर चले जायेंगे। मुन्ना जितना आपको प्यारा है, उससे कम हम लोगों को नहीं। उसकी चाची तो उसके बिना एक घड़ी भी नहीं रह सकती। हमारे भाग्य फूटे गये कि आपके मन में ऐसे विचार आये। आपके चरणों की सौगन्ध लेकर कहता हूँ कि फिर कभी आप हमें इस घर की देहली पर नहीं पायेंगे।

अपना जन्मस्थान सभी को प्यारा होता है। राधेश्याम यदि चाहता तो घर का आधा हिस्सा लेकर वहीं रह सकता था। परन्तु उसको किसी प्रकार भी यह स्वीकार नहीं था कि उसके कारण परिवार का अनिष्ट हो। विदा के समय पति-पत्नी दोनों ने भाभी-भैया के पैर छुए, परन्तु बहुत मन होने पर भी कमरे में जाकर बीमार बच्चे के सिर पर हाथ नहीं फेर सके।

उनके जाने के बाद रामस्वरूप गुमसुम सा रहने लगा। कुछ इस प्रकार का मानसिक कष्ट हुआ कि उसने खाट पकड़ ली। थोड़े दिनों बाद बच्चा-भला चंगा हो गया, पर रामस्वरूप दिन-पर-दिन सूखने लगा। उसको लगातार ज्वर रहने लगा। उस समय तक क्षय-रोग (टी.बी.) का निदान नहीं था।

पत्नी से बीमारी का कारण छिपा नहीं था। परन्तु संकोचवश गाँव जाकर देवर-देवरानी को लाने का साहस नहीं हुआ। उधर शुरू में तो राधेश्याम लोगों द्वारा बड़े भाई की बीमारी के संवाद मँगाता रहा, पर जब नहीं रहा गया, तो गाँव से आकर हवेली के बाहर बैठ जाता और वैद्य-डॉक्टरों से पूछ-ताछ कर चिकित्सा का प्रबन्ध करने लगा। सौगन्ध खाई हुई थी, अत: बड़ी इच्छा होते हुए भी घर में जाकर अन्तिम घड़ी में भी भाई की सेवा नहीं कर सका। मृतक के क्रिया-कर्म के लिये पति-पत्नी पास के एक घर में आकर ठहरे। बारह गाँवों के गरीबों को भोजन कराया गया। श्राद्ध-कर्म के लिये काशी के पण्डितों को बुलाया। इतना बड़ा आयोजन आज तक इस कस्बे में कभी नहीं हुआ था। तेरहवें दिन पूरी बिरादारी को न्योता गया और चौदहवें दिन वे पुन: अपने गाँव लौट गये।

समय बीतता गया। किशन का बड़ी धूम-धाम से विवाह हुआ। उसकी माँ बीमार रहने लगी थी। इसीलिये चाचा-चाची ने दिन-रात परिश्रम करके सारे नेगचार बड़ी अच्छी तरह से निपटाये। राजस्थान में नई बहू से पैर-छुआई और उसकी मुँह-दिखाई का नेगचार होता है। परिवार और पास-पड़ोस के लोग उसके घर आकर कुछ-न-कुछ भेंट देते हैं।

जब वह पड़ोस के घर में चाची जी के पैर छूने को गई तो उन्होंने सन्दूक में से एक डिब्बा निकाला और अपना सारा गहना जो उन्हें विवाह के समय मिला था – बहू को पहना दिया। कहा कि इस शुभ दिन के लिये मैंने भगवान से न जाने कितनी मनौतियाँ मानी और कितने व्रत-उपवास किये। उन्होंने मेरी लाज रख ली, मेरा कलंक मिट गया। पितरों के आशीर्वाद से मेरा किशन फले-फूले और तुम सदा सुहागिन रहो। दुधों नहाओ और पूतों फलो। इसके बाद उसका गला भर आया। शुभ घड़ी में आँसुओं से कहीं अमंगल न हो जाय इसलिये शीघ्र ही भीतर के कमरे में चली गई। ❑❑❑

गुरु की आवश्यकता

स्वामी ब्रह्मानन्द

(श्रीरामकृष्ण के एक प्रमुख शिष्य द्वारा लिखित गुरु (Guru) शीर्षक यह लेख गुरु की महिमा को विशेष रूप से अभिव्यक्त करता है। अद्वैत आश्रम से प्रकाशित Religion and its Practice नामक पुस्तक से इसका हिन्दी अनुवाद किया है स्वामी विदेहात्मानन्द ने। – सं.)

आजकल प्राय: सर्वत्र ही कोई-न-कोई धर्म का आन्दोलन दीख पड़ता है। विशेषकर अंग्रेजी-शिक्षित लोग भी नास्तिकता का आश्रय न लेकर किसी-न-किसी धार्मिक आन्दोलन में भाग ले रहे हैं। जो लोग धर्म की चर्चा करते हैं उनमें भी विभिन्न स्वभावों के लोग दीख पड़ते हैं। कोई-कोई कहते हैं कि जैसा चला आ रहा है, कुलगुरु से दीक्षा लेकर अन्य लोगों के समान ही जप-तप करो, इसी से ईश्वर की प्राप्ति हो जायेगी। कुलगुरु का त्याग नहीं करना चाहिये, इससे महापाप होता है, अत: कुलगुरु का चाहे जैसा भी चरित्र हो, उधर ध्यान न देकर उनसे मंत्र लो और जितना भी हो सके जप-तप करो। वे लोग स्वयं भी ऐसा ही किया करते हैं। बीच-बीच में वे लोग महाभारत, पुराण आदि का पाठ या श्रवण किया करते हैं और कोई-कोई तंत्र भी देख लेते हैं।

फिर कुछ लोग ऐसे हैं, जो स्वयं के प्रयास से कुछ शास्त्र पढ़ लेते हैं। आजकल गीता, पुराण, उपनिषद्, वेदान्त, योग शास्त्र आदि के अनुवाद प्रकाशित हो रहे हैं। कोई-कोई इन अनुवादों की सहायता से या किसी पण्डित की सहायता से यथासाध्य शास्त्रों का मर्म जानने का प्रयास करते हैं। वे इन शास्त्रों से अपने मन-माफिक कोई उपासना-प्रणाली चुनकर उपासना भी करते रहते हैं। ये लोग गुरु बनाने की आवश्यकता स्वीकार नहीं करते, या फिर स्वीकार करने पर भी उसे अनिवार्य नहीं समझते। कोई-कोई इस विषय में ज्यादा सिर ही नहीं खपाते। फिर इनमें से कुछ लोग कहते हैं कि सिद्ध गुरु मिले बिना गुरु बनाना या न बनाना एक समान है। अत: जब सिद्ध गुरु मिलेंगे, तब गुरु बना लूँगा। इनमें से कोई-कोई साधुसंग करते हैं और कोई-कोई विशेष कुछ नहीं करते।

कुछ लोगों का मत है कि भगवान अन्तर्यामी हैं, उनसे प्रार्थना करने पर वे सुनेंगे और जो कुछ आवश्यक है, वह सब वे देंगे, तो फिर बाह्य गुरु की क्या जरूरत? फिर इसके विपरीत मतावलम्बी कहते हैं – गुरु हुए बिना कुछ भी नहीं होगा। और जिस-तिस को गुरु बनाने से भी कुछ नहीं होगा, सिद्ध गुरु आवश्यक है। जो लोग कुलगुरु के निर्देशानुसार प्रचलित मतानुसार साधन-भजन कर रहे हैं, उनसे पूछने पर वे प्राय: यही उत्तर देते हैं – गुरु ने जैसा कहा है, बस वैसे ही किये जा रहा हूँ, परन्तु समझ में नहीं आता कि उन्नति हो रही है या नहीं। – मन की अशान्ति दूर हुई है क्या? – नहीं, वह भी दूर नहीं हुई। और सचमुच ही देखने को भी मिलता है कि दिन-पर-दिन उनका ईश्वरानुराग बढ़ तो नहीं रहा है; संसार के कामिनी-कांचन में उनका जैसा अनुराग है, उसका एक कण भी भगवान के लिये उनमें देखने को नहीं मिलता।

इन सब विविध प्रकार के मतों को देखकर प्रश्न उठता है – धर्म-जीवन या मुक्ति की उपलब्धि के लिये क्या सचमुच ही गुरु की आवश्यकता है? यदि कहो – है, तो फिर क्या यह आवश्यकता अनिवार्य है अर्थात् क्या गुरु किये बिना किसी भी प्रकार से मुक्तिलाभ असम्भव है? और फिर गुरु को कैसे लक्षणों से युक्त होना चाहिये?

इन प्रश्नों का उत्तर देने के लिये युक्ति, शास्त्र तथा महापुरुषों की वाणी – इन तीनों पर निर्भर करना होगा।

सर्वप्रथम हम देखेंगे कि युक्ति इस विषय में क्या कहती है। जो लोग जरा-सा भी विचार करेंगे, उनकी भी समझ में आ जायेगा कि ईश्वरोपासना या साधन-भजन अपना ही कार्य है, तथापि ऐसा कोई व्यक्ति देखने में नहीं आता, जो जन्म लेते ही किसी निर्जन स्थान में जाकर ईश्वर-चिन्तन करने बैठ गया हो और वहाँ से उठा न हो। यह बात बहुत-से लोग समझते हैं; क्योंकि इस बात को शायद ही कोई निर्बोध व्यक्ति अस्वीकार करेगा कि शास्त्र या अन्य अनेक ग्रन्थों के पाठ तथा विभिन्न लोगों से विभिन्न बातें सुनकर उसकी ईश्वर तथा धर्म के विषय में कुछ धारणा हुई है। जो लोग गुरु की आवश्यकता के विषय में सन्देह करते हैं, वे भी इस बात से इन्कार नहीं करते कि **साधुसंग – भले व्यक्ति के साथ काफी काल तक निवास करने पर उनका उदाहरण देखकर अपनी भी काफी उन्नति होती है; उनका ईश्वरोपासना में अनुराग, उनकी परोपकार-निष्ठा आदि सद्गुणों को देखकर स्वयं में भी उन गुणों से सम्पन्न होने की इच्छा होती है।** सम्भवत: उनकी आशंका यह है कि आजीवन किसी एक व्यक्ति को मानना होगा, आजीवन उनके उपदेश सुनना होगा; यह बात बुद्धि को कैसे पट सकती है?

इसके उत्तर में कहा जा सकता है कि व्यक्ति चाहे जो भी विद्या सीखे, उसे किसी-न-किसी प्रकार के शिक्षा-दाता की आवश्यकता जरूर होगी। ऐसी बात नहीं कि दूसरों से किसी प्रकार की सहायता लिये बिना शिक्षा-ग्रहण का प्रयास करने से शिक्षा-प्राप्ति नहीं होती; होती है, परन्तु उसमें काफी

विलम्ब होता है और बहुत दु:ख-कष्ट भोगने पड़ते हैं। सभी विद्याओं को सीखने का एक ही नियम है – हमारे पूर्वजों के पास जो ज्ञान था, पहले उसे अर्जित करने के बाद यदि सम्भव हो तो उसके ऊपर कुछ और सीखने की चेष्टा करना। फिर यह जो दूसरों से शिक्षा-प्राप्ति है, यह भी केवल जड़ के समान कुछ बातों को रट लेना मात्र नहीं है, बल्कि उसमें भी महान् पुरुषार्थ की जरूरत है। दूसरों से शिक्षा ग्रहण करने का अर्थ है – प्राप्त ज्ञान को आत्मसात् कर लेना। आध्यात्मिक गुरु के सन्दर्भ में भी ये ही बातें सत्य हैं। किसी विशेष उन्नत महापुरुष के साथ विशेष आध्यात्मिक सम्बन्ध के द्वारा बँध जाने पर उनके जीवन में उपलब्ध सारे सत्यों को सहज भाव से अपने जीवन में आत्मसात् करने में सुविधा होती है।

इसके अतिरिक्त सच्चे उन्नत गुरु के पास एक विशेष शक्ति रहती है; और वह यह है कि वे शिष्य की आध्यात्मिक स्थिति को बड़े स्पष्ट रूप से समझ सकते हैं। इसे समझकर वे उसे बता देते हैं कि कौन-से मार्ग पर चलने से उसे आसानी से मोक्षलाभ या ईश्वर-प्राप्ति की सम्भावना है। यदि उन गुरु के साथ शिष्य की सर्वदा मिलने की सुविधा हो, तो वे साधना-काल में आनेवाले विभिन्न विघ्न-बाधाओं को दूर करने का उपाय बताकर और उसकी साधना की उन्नति के अनुरूप उच्च-से-उच्चतर शिक्षा देकर, अन्त तक उसकी सहायता कर सकेंगे। जो लोग सच्चे गुरु को पाकर कृतार्थ हुए हैं, उन सभी का मत है कि सद्गुरु द्वारा मंत्रदान और साधारण कुलगुरु द्वारा मंत्रदान में विशेष पार्थक्य है। सद्गुरु मंत्रदान के समय उसी मंत्र के साथ एक विशेष आध्यात्मिक शक्ति का संचार करते हैं और मंत्र भी साधक की प्रकृति के अनुसार देते हैं। इसके द्वारा साधक अपेक्षाकृत कम परिश्रम तथा कम साधना के द्वारा ही कृतार्थ हो जाते हैं।

सच्चे गुरु अपने शिष्यों का और भी एक उपकार करते हैं। वे वस्तुत: शिष्य का भार ग्रहण कर लेते हैं अर्थात् शिष्य के गलत मार्ग में भटक जाने पर उसे पुन: सन्मार्ग में लाने हेतु लौकिक तथा अलौकिक विविध उपायों का आश्रय लेते हैं। यदि कोई साधक ऐसे गुरु द्वारा उपदिष्ट समस्त तत्त्वों की उपलब्धि करने के बाद, और भी उच्च तत्त्व प्राप्त करने का इच्छुक हो, तो वह किसी अन्य और भी उन्नत गुरु का आश्रय ले सकता है; परन्तु शिष्य यदि खूब उन्नत न हो, तो आजीवन एक ही गुरु में निष्ठा रखना हितकर है, अन्यथा लक्ष्य को ठीक बनाये नहीं रखा जा सकता। गुरु की आज्ञा मानने के विषय में यह कहा जा सकता है कि सद्गुरु कभी किसी को अनुचित आज्ञा नहीं देते; और किसी को सद्गुरु के रूप में स्वीकार करने के पूर्व बहुत दिनों तक परीक्षा करनी पड़ती है। ऐसा न करके, जल्दबाजी में जिस-तिस को सद्गुरु स्वीकार कर लेना उचित नहीं है। जिसे सचमुच ही सद्गुरु प्राप्त करने की इच्छा है, वह तब तक दिन-रात गुरु के साथ निवास करते हुए उनके चरित्र की परीक्षा करे, जब तक कि उनके विषय में यथार्थ साधु के रूप में धारणा तथा विश्वास न हो जाय।

कोई-कोई कहते हैं, "यदि मैं गुरु को पहचान सकूँ, तब तो मैं ही गुरु हो गया। परन्तु यह एक कूट तर्क मात्र है। क्या तुम हर कदम पर भले-बुरे का विचार करके नहीं चलते हो? यदि तुम लोगों के विषय में भले-बुरे का विचार नहीं करते, तो फिर किसी को भला और किसी को बुरा क्यों कहते हो? किसी व्यक्ति ने काम, क्रोध आदि पर विजय प्राप्त कर लिया है या नहीं; वह महाभक्त, महाज्ञानी, निर्लोभी आदि है या नहीं – यदि तुममें यह जानने की या उसके चरित्र का मूल्यांकन करने की क्षमता न हो, तो तुम किसी एकान्त स्थान में चले जाओ और वहाँ बैठकर भगवान से प्रार्थना करो कि 'हे प्रभो, मुझे भला और बुरा समझने की शक्ति दो। बहुत-से लोग इसलिये ठगे जाते हैं, क्योंकि वे बिना परीक्षा किये ही सद्गुरु को स्वीकार कर लेते हैं। परन्तु जब तुमने किसी को गुरु के रूप में स्वीकार कर लिया है, तब तुम्हें हर प्रकार से उनकी आज्ञा पालन से पीछे नहीं हटना चाहिये। अब यह स्पष्ट हो गया है कि कुलगुरु से मंत्र लेकर जिन लोगों की कोई उन्नति नहीं हो रही है, वे यदि भगवत्प्राप्ति के लिये सचमुच ही उत्सुक हों, तो अनायास ही सद्गुरु का आश्रय ले सकते हैं। सद्गुरु ग्रहण करने के बाद भी यदि उनके देहान्त या सुदूर-निवास आदि कारणों से उनका संग न हो सके, तो व्यक्ति उनके द्वारा बतायी हुई साधन-प्रणाली का त्याग न करके, आवश्यक प्रतीत होने पर किसी महापुरुष के पास जाकर अनायास ही शिक्षा प्राप्त कर सकता है। कहते हैं कि अवधूत ने चौबीस गुरु किये थे।

अब हम देखते हैं कि इस विषय में शास्त्र क्या करते हैं। इस छोटे-से लेख में शास्त्र के आधार पर गुरु-तत्त्व पर चर्चा करना असम्भव है। ईश्वर की इच्छा हुई तो एक अन्य लेख के द्वारा इस विषय में विस्तारपूर्वक विचार करने की इच्छा है। सभी प्रमाणों के मूलस्रोत-रूपी श्रुति-शास्त्र से मैं दो-चार बातें प्रस्तुत करता हूँ। श्रुति कहती है –

तद्विज्ञानार्थं स गुरुमेवाभिगच्छेत्।
समित्पाणिः श्रोत्रियं ब्रह्मनिष्ठम्।।

– ईश्वर को जानने के लिये समित् अर्थात् हवन की लकड़ी हाथ में लेकर वेदज्ञ तथा ब्रह्मनिष्ठ गुरु के पास जाओ।

आचार्यवान् पुरुषो वेद।

– जिनके पास आचार्य हैं, वे ही ज्ञान प्राप्त कर सकते हैं।

आश्चर्यो वक्ता कुशलोऽस्य लब्धा।

– परमात्मा का तत्त्व बतानेवाले और उसका श्रवण करनेवाले – दोनों को ही अलौकिक गुणशाली होना चाहिये।

न नरेणावरेण प्रोक्त एष सुविज्ञेयो बहुधा चिन्त्यमानः।

– हीन आचार्य द्वारा कहे जाने पर, बहुत चिन्तन करने पर भी इस तत्त्व को ठीक-ठीक नहीं जाना जा सकता।

यस्य देवे परा भक्तिर्यथा देवे तथा गुरौ ।
तस्यैते कथिताह्यर्थाः प्रकाशन्ते महात्मनः ।।

– जिस व्यक्ति की परमात्मा में प्रगाढ़ भक्ति है; और परमात्मा जैसी ही गुरु में भी भक्ति है, उसी महात्मा के हृदय में श्वेताश्वतर-उपनिषद् में निरूपित ये तत्त्व प्रकट होते हैं।

श्रुतियों में ऐसे अनेक वाक्य हैं। तंत्रशास्त्र में भी सद्गुरु के विषय में असंख्य प्रमाण हैं। उनमें इस बात पर भलीभाँति विचार किया गया है कि सद्गुरु तथा असद्-गुरु के क्या लक्षण हैं। इन सब का तात्पर्य यह है कि सद्गुरु का आश्रय लेकर साधना करने से ही लक्ष्य प्राप्त होगा। कहीं-कहीं ऐसा भी लिखा दीख पड़ता है कि कुलगुरु चाहे जैसे भी हों, उन्हीं से दीक्षा ग्रहण करो; परन्तु ये वाक्य सच्चे गुरुओं का अभाव होने के बाद स्वार्थपर गुरुओं द्वारा शास्त्र में प्रक्षिप्त किये हुए हैं। धर्म कोई सामाजिक वस्तु नहीं है, अत: इसमें बाध्यता या परम्परा का लेश मात्र भी स्थान नहीं है। कुलगुरु अर्थात् जो मेरे पिता के गुरु हुए थे, वे मेरे लिये सामाजिक सम्मान के पात्र हो सकते हैं, सामर्थ्य होने पर मैं उन्हें यथासाध्य अर्थदान तो कर सकता हूँ, परन्तु जब मेरे प्राणों में ईश्वर को प्राप्त करने की व्याकुलता जाग्रत होगी, तब मैं वहीं जाऊँगा जहाँ उस व्याकुलता की तृप्ति हो सकेगी। जिनके पास प्यास बुझ सकती है, उन्हें छोड़कर मैं अन्यत्र कहाँ जल की खोज करूँगा? मुझे अपना गुरु चुनने की स्वाधीनता होनी चाहिये।

महापुरुषों से पूछने पर, वे भी कहते हैं, "हम ब्रह्मविद् गुरु के पास जाकर, उनके द्वारा प्रदत्त साधना-प्रणाली को सीखकर, बारम्बार उनका उपदेश लेकर, पग-पग पर उनके जीवन में परीक्षित सत्यों के आलोक से उत्साहित होते हुए ही इस अवस्था में पहुँचे हैं।" तुम्हें भी यदि सच्ची उन्नति करने की इच्छा हो, तो तुम्हें भी इसी प्रणाली का अनुसरण करना होगा। 'सद्गुरु पावे भेद बतावे' – यही सभी महापुरुषों का मत है। जहाँ कहीं भी धर्म का कोई अद्भुत विकास दीख पड़ता है, पता चलता है कि उसके पीछे गुरु के रूप में किसी-न-किसी महापुरुष की सहायता अवश्य थी। बोलचाल की भाषा में लोग कहते भी हैं – इस आदमी में गुरुबल है। शास्त्र में लिखा है – ईश्वर हैं; लोग कहते हैं – ईश्वर हैं; परन्तु गुरु कहते हैं – मैंने उन्हें देखा है। वे अपने शिष्य को भी उन्हें देखने का मार्ग बता देते हैं और उसी मार्ग पर धीरे-धीरे अग्रसर कराते हैं। सच्चे गुरु के दर्शन मात्र से ही उनके प्रति स्वाभाविक श्रद्धा का उदय होता है। उन्हें देखते ही ऐसा प्रतीत होता है कि वे किसी अलौकिक आनन्द का आस्वादन पाकर उसी में निमग्न हैं और दिनो-दिन अधिकाधिक निमग्न होते जा रहे हैं। उनके पास जाते ही मानो संसार की सारी दु:ख-पीड़ाएँ शान्त हो जाती हैं – मन में मानो संसार का लेशमात्र भी नहीं रहता। **उनके पवित्र स्पर्श से, निद्रित ब्रह्मशक्ति के जाग्रत हो उठने पर, साधक को अपने चारों ओर आनन्द का ही समुद्र लहराता दीख पड़ता है।**

ऐसे गुरु के लिये शिष्य क्या नहीं कर सकता? उनके प्रति शिष्य की कृतज्ञता होना क्या स्वाभाविक नहीं है? शास्त्रों में गुरु के प्रति ब्रह्म-बुद्धि रखने का आदेश दिया गया है। ऐसा क्या गुरु का व्यवसाय करनेवाले के प्रति होना सम्भव है? परन्तु ब्रह्मविद् व्यक्ति के प्रति यह सहज ही हो जाता है। जो लोग ऐसे बालसुलभ तर्क देते हैं, "गुरु में ब्रह्मबुद्धि रखना उचित नहीं है, ऐसा करने से ईश्वर का अपमान होता है" – वे घोर द्वैतवाद के जाल में पड़कर, सृष्टिकर्ता तथा सृष्टि के बीच एक अलंघनीय व्यवधान की कल्पना करके, गुरु में ब्रह्मबुद्धि का पूर्णत: निषेध करते हैं; उन्हें हम सलाह देते हैं कि वे अद्वैत वेदान्त को थोड़ा सूक्ष्म रूप से समझें और इसके साथ ही साधना का अभ्यास करें।

ऐसे गुरु ब्राह्मण हों या शुद्र, हिन्दू हों या मुसलमान या ईसाई, संन्यासी हों या गृहस्थ – इन सब बातों को लेकर कोई प्रश्न ही नहीं उठ सकता। जो ब्रह्मविद् हैं, वे ही गुरु हैं; ब्राह्मण आदि तो उपाधि मात्र है।

मैंने संसार में अनेक गुरु देखे हैं और उनसे उपदेश भी लिये हैं, परन्तु उसका कोई फल नहीं हुआ। इसका कारण यह है कि उनमें ब्रह्मविद् का कोई भी लक्षण विद्यमान नहीं था। संसार के प्रति उनकी आसक्ति गयी नहीं थी। उनके भीतर विवेक-वैराग्य का प्रभाव देखने को नहीं मिला। जैसे अन्धे के पास जाकर रास्ता पूछना निरर्थक है, वैसे ही साधारण गुरु से उपदेश ग्रहण करना भी निष्फल होता है। उन लोगों के उन उपदेशों के साथ शक्ति का संचार नहीं होता। सुना है और मेरा विश्वास भी है कि ब्रह्मविद् गुरु मंत्र के साथ एक ऐसी शक्ति का संचार कर देते हैं, जिससे शिष्य को नवजीवन प्राप्त हो जाता है। उसी दिन से उसका नया विश्वास और नया जीवन आरम्भ होता है। मैंने साधारण गुरुओं के मुख से कितने ही उपदेश सुने, परन्तु वे हृदय में कोई स्थान नहीं बना सके। इस विषय में एक महापुरुष के मुख से मैंने एक कथा सुनी थी, जो इस प्रकार है –

किसी राजा के मन में एक बार संसार के प्रति वैराग्य हो गया। उन्होंने सुन रखा था कि सात दिन भागवत सुनकर राजा परीक्षित को ज्ञान हो गया था। उन्होंने एक स्थानीय पण्डित को बुलवाकर उनसे भागवत सुनना आरम्भ किया। दो महीने तक नित्य भागवत सुनने के बावजूद उन्हें किसी भी तत्त्व-ज्ञान की प्राप्ति नहीं हुई। वे ब्राह्मण से बोले, "परीक्षित को तो सात दिन भागवत सुनकर ही तत्त्व-ज्ञान प्राप्त हो गया था और मैं तो दो महीने से भागवत सुन रहा हूँ, मेरा कुछ

क्यों नहीं हुआ? इसका उत्तर यदि आप कल तक नहीं दे सके, तो फिर आपको कोई पारिश्रमिक नहीं दिया जायेगा।'' राजा की घोर नाराजगी की आशंका से अत्यन्त चिन्तामग्न चित्त के साथ ब्राह्मण घर लौटे, परन्तु बहुत सोचने के बाद भी उन्हें उस प्रश्न का कोई भी उत्तर नहीं सूझा।

इस पर वे बड़े परेशान होकर गाल पर हाथ रखे घोर चिन्ता में डूबे हुए थे। उनकी एक बुद्धिमती तथा पितृभक्ति-परायण पुत्री थी। अपने पिता को इस प्रकार शोकमग्न देखकर उसने पिता से बारम्बार इसका कारण पूछा। पुत्री के स्नेह से बाध्य होकर आखिरकार पिता को अपने इस विषाद का कारण बताना ही पड़ा। सुनकर कन्या हँसते हुए बोली, ''पिताजी, आप बिल्कुल भी चिन्ता मत कीजिये। कल मैं जाकर राजा को उत्तर दे दूँगी।

अगले दिन पण्डितजी अपनी पुत्री के साथ राज्यसभा में उपस्थित हुए। वे राजा से बोले – मेरी पुत्री आपके प्रश्न का उत्तर देगी। कन्या बोली – प्रश्न का उत्तर पाना हो, तो मैं जो कुछ कहूँगी, उसे आपको सुनना होगा। राजा के स्वीकार कर लेने पर कन्या ने प्रहरियों से कहा – एक खम्भे से मुझे और दूसरे से राजा को बाँधो। राजा के आदेश पर प्रहरियों ने वैसा ही किया। अब कन्या ने राजा से कहा – ''आप मेरा बन्धन खोल दीजिये। राजा बोले – यह कैसी असम्भव बात कहती हो। मैं स्वयं ही बँधा हुआ हूँ, भला मैं तुम्हारा बन्धन कैसे खोल सकता हूँ?'' तब कन्या हँसते हुए बोली – ''राजन्, यही आपके प्रश्न का उत्तर है। राजा परीक्षित मुमुक्षु श्रोता थे और वक्ता सर्वत्यागी, ब्रह्मपरायण, महाज्ञानी साक्षात् शुकदेव थे। उन्हीं से भागवत सुनकर राजा परीक्षित को ज्ञान हुआ था। दूसरी ओर मेरे पिता स्वयं ही संसार में आसक्त हैं और धन के लोभ में आपको शास्त्र सुना रहे थे। उनके मुख से सुनकर आपको भला कैसे ज्ञान प्राप्त हो सकता है?''

यह उपदेशात्मक कथा बताती है कि सद्‌गुरु से उपदेश सुने बिना बन्धन का दूर होना कदापि सम्भव नहीं है।

इस विषय में और भी दो-एक बातें सुनने को मिलती हैं। कोई-कोई कहता है कि शिष्य चाहे जैसा भी क्यों न हो, सद्‌गुरु मिल जाने पर उसकी मुक्ति अवश्यम्भावी है। फिर कोई-कोई यह भी कहता है कि गुरु चाहे जैसे भी क्यों न हों, शिष्य में श्रद्धा-भक्ति-विश्वास हो, तो मुक्तिलाभ हो जाता है। इन दोनों बातों को हम पूरी तौर से अस्वीकार नहीं करते। तो भी वास्तविक जगत् में ऐसी घटना शायद ही कहीं देखने को मिलती है। सामान्यत: गुरु व शिष्य – दोनों का ही सुयोग्य होना आवश्यक है। एक ही महापुरुष के शिष्यों में कितना तारतम्य देखने को मिलता है ! यह शिष्यों की योग्यता पर निर्भर करता है। शिष्य यदि श्रद्धालु, विनयी तथा अध्यवसाय-सम्पन्न हो, तो वह बड़ी सहजता से गुरु द्वारा बताये गये सारे तत्त्वों को आत्मसात् कर सकता है। हमारे शास्त्रों में जिस प्रकार के गुरु-शिष्य सम्बन्ध की बातें पढ़ने को मिलती हैं, उनसे यह स्पष्ट समझ में आ जाता है कि उनमें शिष्य के लिये जिन कर्तव्यों के निर्देश दिये गये हैं, उनका पालन करने से उसके शरीर एवं मन ऐसे प्रशिक्षित हो जाते हैं कि वह एक सच्चा आदमी बन जाता है।

हम कह सकते हैं कि हमारे देश में उस प्रकार की गुरु-भक्ति बिल्कुल भी नहीं है। फिर बहुत-से लोग इस गुरुभक्ति की परम्परा को मिटा देने के लिये कमर कसे हुए हैं। यदि सचमुच ही देश से यह गुरुभक्ति चली गयी, तो फिर श्रद्धा, विश्वास, निष्ठा आदि सद्गुण भी लुप्त हो जायेंगे। तब समाज में स्वाधीनता के नाम पर स्वेच्छाचार का साम्राज्य स्थापित हो जायेगा। गुरु बनाने के पहले उनकी परीक्षा कर सकते हो, परन्तु एक बार उन्हें स्वीकार कर लेने के बाद अपने मन को इस प्रकार गठित कर लेना होगा कि उनके आदेश पर जीवन तक विसर्जित कर सको। कुछ लोग सोचते हैं कि गुरु के ऊपर इस प्रकार निर्भर करने पर हमारे मन की स्वाधीनता पूरी तौर से लुप्त हो जायेगी और हम लोग क्रमश: एक जड़-पिण्ड में परिणत हो जायेंगे। यह आशंका पूर्णत: निर्मूल है। सच्चे सद्‌गुरु कभी किसी के मन की स्वाधीनता का हरण नहीं करते; बल्कि वे ऐसी शिक्षा देते हैं, जिससे उसका मन स्वाधीन हो सके, जिससे वह स्वयं अपने पाँवों पर खड़ा हो सके; जिससे वह इन्द्रियों के बन्धन, मन के बन्धन, परिवार के बन्धन, समाज के बन्धन – सबको काटकर मुक्त विहंगम के समान विचरण कर सके। व्यक्ति किसी से थोड़ा-सा धन अथवा कोई शारीरिक लाभ पाकर उसके प्रति कितना कृतज्ञ होता है। परन्तु जिसके पास से तुम्हें जीवन का सारतत्त्व, सर्वश्रेष्ठ पदार्थ को पाने का उपाय तथा उसकी प्राप्ति के मार्ग में पग-पग पर सहायता मिली है, उसके प्रति थोड़ी-सी कृतज्ञता के ज्ञापन को इतना अनुचित क्यों मानते हो? हिन्दू के समान कृतज्ञ जाति कोई अन्य नहीं है। हिन्दू जिस दिन अपनी गुरुभक्ति को भूल जायेगा, उस दिन से हिन्दू का हिन्दुत्व नहीं रह जायेगा। महाभारत के गुरुभक्त उपमन्यु का स्मरण करो। उसी गुरुभक्ति, उसी श्रद्धा, गुरुवाक्य में उसी अपार विश्वास ने कभी भारत को श्रेष्ठ पद पर आसीन कराया था। यदि कभी भारत की दुबारा उन्नति होगी, तो इस गुरुभक्ति की सहायता से ही होगी, गुरु में ईश्वर-ज्ञान से होगी – जो कल्पना के नहीं, प्रत्यक्ष ईश्वर हैं। उनके समक्ष अपने प्राणों की बलि देने को प्रस्तुत होने पर ही हम पुन: महान् कर्मों को सम्पन्न करने में सक्षम होंगे। केवल अपनी मुक्ति प्राप्त करने में सफल होंगे, ऐसी बात नहीं, बल्कि हम अपने मातृभूमि तथा अपने देश के लिये भी कुछ कर सकने में भी समर्थ होंगे। ❑ (उद्‌बोधन वर्ष ५, पृ. १२९-१३७)

संन्यास : एक महोत्सव

स्वामी अखण्डानन्द सरस्वती

देखो ! जन्मोत्सव (बर्थडे) मनाने की रीति तो है ही। असल में, जन्म का उत्सव भी संन्यास का ही उत्सव है। मनाने वाले समझते नहीं। बस ! इतनी ही बात है। अच्छा देखो ! इसमें संन्यास क्या है? इसमें संन्यास यह है कि अब हमको पशु-योनि से, पक्षी-योनि से मुक्ति मिली। अब हमको राक्षस-योनि से और देव-योनि से छुटकारा मिला। अब हम पशु-पक्षी और देव-राक्षस-योनियों से मुक्त होकर मनुष्य-योनि में आये हैं। दूसरे जन्मों से छूटकर मनुष्य-जन्म में आये हैं। यही तो संन्यास है। यही तो संन्यास का उत्सव है कि अब हम दूसरी-योनियों से, दूसरे जन्मों से छूटकर ऐसी मानव-योनि में, ऐसे मानव-जन्म में आये हैं, जो कि – **साधन-धाम मोक्ष कर द्वारा** – साधना का धाम और मोक्ष का द्वार है।

ऐसा भी तो हो सकता है कि हम पक्षी होते, पशु होते, चींटी होते, खटमल होते, साँप होते, बिच्छू होते। हाँ, ईश्वर की कृपा से, सद्भाग्य से, सत्कर्म से उनका त्याग हुआ और हम मनुष्य हुए। मनुष्य होना अर्थात् पशु-योनि, पक्षी-योनि, देव अर्थात् भोग-योनि, राक्षस-असुर अर्थात् द्वेष-योनि आदि से छुटकारा या मुक्ति पाना। जन्मदिन पर इस बात का उत्सव मनाते हैं कि आज के दिन हम अन्य योनियों से छूटकर मनुष्य हुए हैं। मनुष्य होना ही तो जन्मोत्सव मनाना है।

ब्याह की भी तो वर्षगाँठ मनाते हैं न ! खुशी की बात है न ! हजार स्त्रियों की ओर जाते थे। हजार पुरुषों की ओर जाते थे। मन वर-माला लिये खड़ा था; आज एक के गले में माला पड़ गयी। एक के हाथ से हाथ मिल गया। दूसरों से छूट गये। वैसा सम्बन्ध अब दूसरों से नहीं होगा। इसकी खुशी मनायी जाती है। आज के दिन हम दूसरी स्त्रियों के आकर्षण से, दूसरे पुरुषों के आकर्षण से छूट गये।

मुसलमान लोग तो मरने का भी उत्सव मनाते हैं। क्यों? क्योंकि वे मुसलमान हो चुके हैं। मुसलमान होने से क्या होता है कि मुहम्मद साहब सिफारिश कर देते हैं और इस्लाम को माननेवाला सिर्फ बहिश्त (स्वर्ग) में ही जाता है। उनकी ऐसी मान्यता है कि जो मुसलमान होकर मरेगा, वह दोजख (नरक) में नहीं जायेगा। जो मुसलमान होकर मरेगा, वह स्वर्ग में जायेगा। तो, उनको मरने की भी खुशी होती है। हमारे साधुओं में निर्वाण-महोत्सव मनाते हैं कि अब फिर हमको संसार की योनि में नहीं आना पड़े।

'संन्यास' शब्द को आप ठीक-ठीक समझने का प्रयास करो। हमारे जो 'ट्रस्ट' बनते हैं, आजकल उनको हिन्दी भाषा में 'न्यास' बोलते हैं। हाँ ! संस्कृत भाषा में भी 'न्यास' बोलते हैं। न्यास माने धरोहर। अपनी चीज नहीं है। दूसरे की चीज हमारे पास रखी हुई है। इस पर हमारा कोई स्वत्व नहीं है। इस पर हमारा कोई ममत्व नहीं है। दूसरों की चीज दूसरों के लिये है। न यह हमारी चीज है और न हमारे लिये है। इसको कहते हैं – न्यास। हम कोई पन्द्रह ट्रस्टों में हैं। ज्यादातर 'प्रेसीडेन्ट' अध्यक्ष के रूप में हमारा नाम है। मथुरा में 'श्रीकृष्ण जन्मस्थान ट्रस्ट', ऋषिकेश में 'स्वर्गाश्रम ट्रस्ट' – दोनों का मैं प्रेसीडेन्ट हूँ। ऐसे बहुत हैं। 'सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट', 'प्रेमपुरी आश्रम ट्रस्ट' – इसमें भी मैं हूँ। फिर वृन्दावन में 'आनन्द वृन्दावन ट्रस्ट' है; 'लोकहित प्रन्यास ट्रस्ट' है और 'जनता-जनार्दन सेवा ट्रस्ट' है। एक दिल्ली में है। एक बम्बई में है। 'श्री उड़िया बाबाजी महाराज ट्रस्ट' का मैं तीस बरस से अधिपति हूँ।

यह आपको इसलिये सुनाता हूँ कि 'श्रीकृष्ण-जन्मस्थान ट्रस्ट' की एक अतिथिशाला बनी हुई है। मैं प्रेसीडेण्ट हूँ और जयदयाल डालमिया जी उसके सेक्रेटरी हैं। उनके पुत्र विष्णु डालमिया भी उसमें हैं। रामनाथ गोयनका भी हैं। और भी बहुत सेठ लोग हैं। 'श्रीकृष्ण-जन्मस्थान' में लक्ष्मीनिवास बिरला हैं और स्वर्गाश्रम में बसन्तकुमार बिरला हैं। एक बार मेरे सामने हिसाब आया। मेरी तो आँख खुल गयी। उसमें जयदयाल डालमियाजी के ठहरने का किराया लिखा हुआ था। जयदयाल डालमियाजी वहाँ का काम कराने के लिये पचास लाख रुपये लगा चुके हैं; परन्तु जब उसमें आकर ठहरते हैं, तब अपने ठहरने का किराया कायदे से भरते हैं। वे ही तो मालिक हैं। उन्होंने ही बनाया है। उन्हीं की पत्नी की ओर से वह अतिथिशाला भी बनी है। उसमें जो चौदह-पन्द्रह लाख रुपये लगे, वह उनकी पत्नी ने लगाया हुआ है। परन्तु जब उसमें ठहरते हैं, तब ट्रस्ट को कायदे से अपने ठहरने का किराया देते हैं। इसे कहते हैं 'न्यास'।

हमारी तो आँख ही खुल गयी ! हमने भी 'प्रेमपुरी आश्रम ट्रस्ट' से कहा कि हम तुमसे एक पैसा नहीं लेंगे; 'सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट' से कहा – हम तुमसे एक पैसा नहीं लेंगे; और भी किसी ट्रस्ट से नहीं लेते हैं। आप लोगों को शायद मालूम नहीं होगा कि वृन्दावन में जहाँ हम रहते हैं, वह 'लोकहित प्रन्यास ट्रस्ट' में नहीं है, वह तो 'जे. के. ग्रुपवालों ने पहले से ही ट्रस्ट से बाहर हमारे लिये कमरे बनवा रखे हैं, उनमें मैं रहता हूँ। वह किसी ट्रस्ट की सम्पत्ति नहीं है।

उसके मालिक वही हैं। हाँ, उसमें मैं तीस वर्षों से रहता हूँ। श्रीउड़िया बाबाजी महाराज के सामने ही रहता हूँ।

न्यास का अर्थ यह होता है कि वह दूसरों की सम्पदा है और दूसरों के लिये है ! हम केवल उसकी देखभाल करते हैं कि उसमें कोई गड़बड़ न करे। हमारा इतना ही काम होता है। 'वेद-निकेतन' है, 'भारत-साधु-समाज' है और औरैया में एक ट्रस्ट है। उसमें तो हमारा वीटो है। हाँ ! बिना हमारी अनुमति के उसमें कुछ होता ही नहीं है। कानपुर में एक ट्रस्ट है, उसमें भी हम हैं। 'ट्रस्ट' की बात मैं आपको क्यों बताता हूँ? इसको हिन्दी तथा संस्कृत में 'न्यास' कहते हैं। इसमें जो ट्रस्टी होते हैं, उन्हें 'न्यासी' बोलते हैं। यह दूसरों की धरोहर है। यह अपने सुख और अपनी मनोतृप्ति हेतु उपभोग करने के लिये नहीं है। यह लोकहित के लिये है। संन्यासी कौन है? जिसके न्यास के साथ 'सम्' जुड़ गया !

असल में यह धरती किसकी है? ईश्वर की है न ! ईश्वर ने इसको सबके उपभोग के लिये बनाया है। वह न्यासी है। जो व्यक्ति भूपति बनता है, कहता है कि मैं धरती का मालिक हूँ, वह बेईमान है। भगवान ने पानी किसके लिये बनाया? ये सूर्य-चन्द्रमा किसके लिये बनाये? – सबके उपयोग के लिये बनाये। ये लोकहित के लिये हैं। जिस माटी से धरती बनी, उसी से शरीर बना। जैसे माटी सबके लिये है, वैसे ही शरीर भी सबके लिये है। पानी भी वैसे ही है। आग भी वैसे ही है। हवा भी वैसे ही है। आसमान भी वैसे ही है। हाँ ! ईश्वर आपके पास कोई बिल नहीं भेजता। आप ईमानदार हों, तो धरती पर रहने का किराया भगवान को चुकावें, भगवान को पानी पीने की कीमत चुकावें, जैसे नल के पानी का किराया चुकाते हैं, गैस का देते हैं, पंखे का देते हैं, बिजली का देते हैं, फोन का देते हैं। दुनिया की यह सारी सम्पदा ईश्वर की है। आपकी कोई नहीं है। हाँ, आप इसकी सँभाल कर सकते हैं। यदि आप इसका उपयोग करते हैं, तो इस माटी के शरीर से दूसरों को खाने के लिये अन्न मिले, पहनने को कपड़ा मिले, पीने को पानी मिले, रोशनी मिले, हवा मिले, बढ़िया-बढ़िया शब्द मिले। आपका शरीर केवल अपने लिये नहीं, बल्कि सबके लिये हो; आपका जीवन सबके लिये उपयोगी हो, सबके लिये हितकारी हो।

संन्यासी होने का महोत्सव क्या हुआ? संन्यास लेते समय हम यह व्रत ग्रहण करते हैं कि आज से यह सब कुछ ईश्वर का है। मेरा कुछ भी नहीं है। मुझे अपने लिये कुछ भी नहीं चाहिये। सब कुछ लोकहित के लिये है। संन्यासी माने जीवन्मुक्त नहीं होता, संन्यासी माने ज्ञानी भी नहीं होता, संन्यासी अज्ञानी भी हो सकता है, संन्यासी बद्ध भी हो सकता है। परन्तु वह संन्यासी नहीं हो सकता, जो किसी भूमि को अपनी मानता है, जो किसी वस्तु को अपनी मानता है, जो किसी व्यक्ति को अपना मानता है। प्रदीप्त अन्तर्दृष्टि के द्वारा जो किसी स्थान को, किसी वस्तु को, किसी व्यक्ति को अपना नहीं मानता, उसी का नाम 'संन्यासी' है। यही संकल्प किया जाता है – मैंने भूर्लोक, भुवर्लोक, स्वर्लोक का संन्यास कर दिया। ये मेरे नहीं हैं – **नाहं, न मे** – न मैं हूँ, न मेरा है। **अभयं सर्वभूतेभ्यो मत्तः अस्तु स्वाहा** – संसार के सब प्राणी मुझसे निर्भय हो जायँ। संन्यासी के लिये ऐसा लिखा है कि अपने हाथ से दातुन न तोड़े। संन्यासी के लिये ऐसा भी लिखा है कि यदि किसी के खेत में कोई पशु चर रहा हो, तो उसको हाँके नहीं। यदि किसी के घर में कोई चोरी कर रहा हो, तो चोर को पकड़े नहीं, क्योंकि उसके लिये जैसे चोर मनुष्य है, वैसे वह मालिक बना हुआ मनुष्य भी है। दोनों एक ही सरीखे हैं। वह चीज तो दूसरे की है। हम अपना-अपना मानकर पकड़े हुए हैं।

जीवन्मुक्ति दूसरी चीज है, वह ज्ञान होने के बाद का जीवन है। ज्ञान दूसरी चीज है, उसमें द्वैत बाधित होता है – द्वैत मिथ्या हो जाता है। जिसमें द्वैत मिथ्या हो जाता है, उनका नाम ज्ञान है। जो निर्द्वन्द्व-निर्भय जीवन है, उसका नाम जीवन्मुक्ति है। संन्यास दूसरी चीज है, वह अज्ञानी भी ले सकता है। संन्यासी बद्ध भी हो सकता है, उसका पुनर्जन्म भी हो सकता है, वह नरक-स्वर्ग में भी जा सकता है। यदि बुरा काम करेगा, तो संन्यासी के लिये भी नरक के दरवाजे खुले हैं। यदि अच्छे काम करे, तो वह भी स्वर्ग में जा सकता है। यदि निष्काम उपासना करेगा, तो वह भी ब्रह्मलोक में जा सकता है। यदि भगवान की भक्ति करेगा, तो वह भी वैकुण्ठ में जा सकता है। लेकिन जो दुनिया की किसी वस्तु को अपनी समझता है, वह संन्यासी कभी नहीं हो सकता।

जो किसी स्थान को, किसी वस्तु को और किसी व्यक्ति को अपना समझता है, उसका नाम संन्यासी नहीं होता है। संन्यास के दिन यह संकल्प लिया जाता है कि आज तक हमने जितने बुरे काम किये थे, उसका यह रहा प्रायश्चित्त। पितरो ! माफ करो ! आज हम तुम्हारा श्राद्ध कर लेते हैं, आज के बाद नहीं करेंगे। देवताओ ! तुम्हारे लिये हम हवन कर लेते हैं। क्षम्यताम् ! माफ करो ! अब आज के बाद हम देव-पूजा नहीं करेंगे। आज तक जो पाप किये हैं, उनका हमने प्रायश्चित कर लिया। संन्यास में यह संकल्प होता है। मैंने सब कुछ छोड़ दिया, जैसे भगवान रखेंगे, वैसे रहेंगे। संन्यास लेने के समय यह समर्पण का मंत्र बोला जाता है।

आप, अपने जन्म का उत्सव मनाते हो; अपने ब्याह का उत्सव मनाते हो। आप यह तो समझो कि जिस दिन ऐसा संकल्प किया, जिस दिन ऐसा निश्चय किया, वह जीवन में कितने बड़े उत्सव का दिन होता है। यदि तुम नहीं मनाते, तो भी हम मनाते हैं – संन्यास का उत्सव। हाँ हमारे जीवन

में एक दिन ऐसा आया था, जब हम दोनों हाथ उठाकर उत्तर दिशा की ओर चले थे। उस दिन हमने यह संकल्प किया था कि अब हम संसार में लौटकर नहीं आयेंगे, गंगाजल पीयेंगे, पेड़ के नीचे रहेंगे। संन्यास लिया था, किसी मण्डली का ईश्वर बनने के लिये नहीं, किसी मण्डल का ईश्वर बनने के लिये नहीं, प्रान्तेश्वर बनने के लिये नहीं, राष्ट्रेश्वर बनने के लिये नहीं, मण्डलेश्वर बनने के लिये नहीं, मठेश्वर बनने के लिये नहीं, पीठेश्वर बनने के लिए नहीं। सामने जैसे चौकी है न! रख दिया उस पर खड़ाऊँ, उनका नाम हो गया पीठाधीश्वर। पीठ माने यही पीढ़ा। पीढ़ा का नाम पीठ है! न्यास माने ईश्वर की चीज, ईश्वर की समझकर, ईश्वर के लिये छोड़ देने के लिये। यहाँ रहे या वहाँ रहे, अब रहे या तब रहे, रहे या न रहे – इससे कोई मतलब नहीं है। उठा दिये दोनों हाथ!

एक बात और। आप लोग तो बहुत डरते हैं। 'गृहस्थ'-'गृहस्थ' बोलकर बड़ा डरते हैं। यदि आपके मन में यह संकल्प होता कि हम भी कभी सब कुछ त्यागकर संन्यासी हो जायेंगे, तो आज जो इकट्ठा करते हो न, वह नहीं करते। यदि अन्त में, छोड़ने का संकल्प हो, तो संग्रह की जो वृत्ति है, वह शिथिल पड़ जायेगी। आप संन्यासी हों कि न हों, लेकिन यदि आपके मन में यह हो कि अन्त में सब कुछ छोड़ना है, तो आपकी संग्रह की वृत्ति ढीली पड़ जायेगी। आपके जीवन-काल में ही आपकी छोड़ने की वृत्ति बनी रहेगी। आप सोचते हो कि मरने के बाद हमारे बेटे, नाती, पोते – इन सबका क्या होगा! सब-के-सब बेवकूफ होंगे! न उनमें कमाने की समझदारी होगी, न उनके प्रारब्ध में होगा और न उनके पौरुष होगा! उनके लिये हम ही कमा कर रख चलें। मरने के बाद की बात सोचते हैं। जीवन-काल की बात नहीं सोचते। यह संन्यास अपने जीवन के लिये बहुत उपयोगी वस्तु है। जिसके मन में यह संकल्प होगा कि हम अन्तिम अवस्था में सबका परित्याग करेंगे, उसको जीवन-काल में आसक्ति नहीं रहेगी। यह संन्यास कोई मामूली वस्तु नहीं है! यह जीवन का एक सत्य है।

विश्वात्मा का नाम 'ब्रह्मचारी' है। हिरण्यगर्भ का नाम 'गृहस्थ' है। ईश्वर का नाम 'वानप्रस्थ' है। तुरीय तत्त्व का नाम 'संन्यास' है। यह सब तात्त्विक पृष्ठभूमि में समझना है। ब्रह्मचारी विश्व-विराट् है। गृहस्थ हिरण्यगर्भ है। वानप्रस्थ ईश्वर है। संन्यासी तुरीय है। शूद्र है – विश्व-विराट। वैश्य है – हिरण्यगर्भ। क्षत्रिय है – वानप्रस्थ। ब्राह्मण है – तुरीय। देखो! आपका दिमाग ठीक है? आपका हाथ ठीक है? आपका पेट ठीक है? आपके पाँव ठीक हैं? पाँव बोझ ढोने का काम करता है। पेट भोजन संग्रह करके उसका रस चारों ओर बाँटने का काम करता है। यदि मच्छर आकर बैठ जाय, तो हाथ रक्षा का काम करता है। मस्तिष्क दिमागी काम करता है। अगर आपका दिमाग बिगड़ जाय, अगर आपका मस्तिष्क ठीक नहीं रहे, तो बड़ी मुश्किल हो जाती है।

ब्राह्मण और संन्यासी। भारत में ही नहीं; यदि सारे जगत् के मानव-समाज में ब्राह्मण और संन्यासी, बुद्धिजीवी और त्यागी – ये दोनों नहीं रहेंगे, तो यह मानवता भी सुरक्षित नहीं रहेगी। बुद्धिमान और त्यागी – इन दोनों के रहने पर ही मानवता भी सुरक्षित रहेगी। आप लोगों में से जो संन्यास का नाम लेकर हँसी उड़ाते हैं, वे मनुष्य जाति की हँसी उड़ाते हैं। वे सम्पूर्ण विश्व की हँसी उड़ाते हैं। वे सत्य की हँसी उड़ाते हैं। वे तत्त्व की हँसी उड़ाते हैं। यह संन्यासी आपके जीवन का एक आवश्यक भाग है, एक आवश्यक अंग है, एक मुख्य अंग है, अनिवार्य अंग है। इसके प्रति आपकी महत्त्व-बुद्धि होनी चाहिए। यह 'संन्यास-महोत्सव' इसी जागरण के हेतु है। ओऽऽऽम्! शान्तिः! शान्तिः! शान्तिः!!! ❑❑❑

(सत्साहित्य प्रकाशन ट्रस्ट, वृन्दावन के सौजन्य से)

पुरखों की थाती

दाने तपसि शौर्ये वा, विज्ञाने विनये नये।
विस्मयो न हि कर्तव्यो, बहुरत्ना बसुन्धरा ।।

– दान, तपस्, शौर्य, ज्ञान, विनय तथा नेतृत्व – इन क्षेत्रों में कुछ असाधारण नररत्न दिखें, तो विस्मय नहीं करना चाहिये, क्योंकि पृथ्वी असंख्य रत्नोंवाली है।

द्वे कुर्यात् द्वे न कुर्यात् च, सन्देहे समुपस्थिते।
कुर्यात् मूत्र-पूरीषे द्वे, न कुर्याद् गमनाशने ।।

– मन में यदि सन्देह या द्वन्द्व उत्पन्न हो, तो दो क्रियाएँ तो करनी चाहिये और दो नहीं करनी चाहिये। मूत्र या मल का तो त्याग कर लेना चाहिये और जाना तथा खाना नहीं करना चाहिये।

देहे द्रव्ये कुटुम्बे च सर्व-संसारिणां गतिः।
बुद्धे बुद्धमते संघे पुनर्मोक्षाभिलाषिणाम् ।।

– सभी संसारी लोगों की अपने शरीर, धन तथा कुटुम्ब में ही आसक्ति होती है; जबकि मोक्ष के अभिलाषियों को बुद्ध (अवतार), उनके उपदेश तथा साधु-भक्तों के संग में आसक्ति होती है।

दानेन श्लाघ्यतां यान्ति, पशु-पाषाण-पादपाः।
दानमेव गुणः श्लाघ्यः किमन्यैर्गुण-कोटिभिः ।।

– दान ही एकमात्र प्रशंसनीय गुण है, यह हो, तो अन्य करोड़ों गुणों की क्या जरूरत! पशु, पत्थर तथा वृक्ष भी दान-गुण के कारण ही प्रशंसित होते हैं।

मानव-वाटिका के सुरभित पुष्प

डॉ. शरद् चन्द्र पेंढारकर
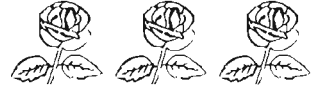
१२५. अहंकार नाश का मार्ग है

राजा ययाति ने दीर्घकाल तक राज्य करने के बाद विरक्त होकर अपने कनिष्ठ पुत्र पुरु को राज्य सौंपा और वन में तप करने चल पड़े। उनके घोर तप से प्रसन्न होकर भगवान ने वर दिया कि वे जब चाहें ब्रह्मलोक या देवलोक में जा सकते हैं। उनके आने पर देवराज इन्द्र को बीच-बीच में अपना आसन खाली करना पड़ता था। अन्य देवताओं को भी अपने अधिकार छिन जाने का भय हुआ। इन्द्र तथा अन्य देवता उनसे ईर्ष्या करने लगे। बहुत विचार के बाद वे इस निष्कर्ष पर पहुँचे कि प्रशंसा ही ययाति को स्वर्ग से गिरा सकती है।

एक दिन इन्द्र ने ययाति के पास जाकर कहा – "महाराज, मैं यह जानने को उत्सुक हूँ कि आपने ऐसा कौन-सा तप किया, जिससे आप सभी लोकों में स्वच्छन्दता से आ जा सकते हैं। सचमुच आप जैसा कोई पुण्यात्मा दूसरा कोई नहीं है, जिसे ब्रह्मलोक के समान उच्च पद प्राप्त हुआ हो।

ययाति अपनी प्रशंसा सुनकर फूले नहीं समाये। उन्होंने अपने तप का बखान करना आरम्भ कर दिया। उन्होंने कहा – "ऐसा कठोर तप, न तो आज तक किसी ने किया है और न ही आगे कोई कर सकता है।" ऐसा कहते ही उनके सारे पुण्य नष्ट हो गये और वे स्वर्गच्युत हो गये।

आत्म-प्रशंसा वस्तुत: अहंकार का ही एक रूप है। सफलता व्यक्ति के मन में अहं के बीज बोती है और उनसे आत्मघात के अंकुर फूटते हैं। फिर गर्वोक्ति की फसल पक कर उसके विनाश का मार्ग बनाती है। सफलता व्यक्ति को ऊपर उठाती है; और अहंकार उसे गर्त में गिराता है।

१२६. राम से बड़ा राम कर दासा

एक बार राजा शकुन्त महर्षि विश्वामित्र के तपोवन में गये। महर्षि अन्य ऋषियों के साथ सत्संग कर रहे थे। राजा ने सभी ऋषियों के चरण छूकर प्रणाम किया, पर जल्दबाजी में महर्षि विश्वामित्र का अभिवादन करना भूल गये। महर्षि ने इसे अपना अपमान माना और बोले कि वे शकुन्त को उसकी धृष्टता का दण्ड दिलाकर ही रहेंगे। उन्होंने श्रीराम से राजा की धृष्टता की शिकायत की और उसे दण्ड देने को कहा।

शकुन्त को जब यह पता चला, तो वे घबराकर तत्काल माता अंजनी के पास गये और उसने रक्षा की याचना की। माता अंजनी ने हनुमानजी को यह कार्य सौंपा। श्रीराम जब शकुन्त के पास जाने लगे, तो हनुमानजी ने नतमस्तक होकर उनका रास्ता रोका। उनकी गदा के धक्के से श्रीराम भूमि पर गिर पड़े। श्रीराम को हनुमानजी की शक्ति का बोध हुआ और उन्होंने हार मान ली। हनुमानजी ने धृष्टता के लिये क्षमा माँगी और बताया कि शकुन्त ने भूल से विश्वामित्र मुनि का अभिवादन नहीं किया था और इसके लिये वे पश्चाताप कर रहे हैं। श्रीराम व हनुमानजी में युद्ध की बात मालूम होने पर विश्वामित्र और शकुन्त दोनों वहाँ पहुँच गये। राजा शकुन्त ने पश्चाताप-दग्ध अश्रुओं से सबसे क्षमा माँगी। विश्वामित्र मुनि ने भी राजा को क्षमाकर दिया। उन्हें भी पश्चाताप हुआ कि उन्होंने व्यर्थ ही आत्म-गौरव को महत्त्व दिया। उन्हें यह बात भी समझ में आ गई कि भक्त भगवान से बढ़कर होता है।

१२७. सर्व सिद्धि फल देत गुरु

समर्थ रामदासजी छत्रपति शिवाजी के गुरु ही नहीं, पथ-प्रदर्शक भी थे। उनका लोकहित की ओर बड़ा ध्यान रहता था और उनमें देशभक्ति की उत्कट भावना थी। उनका ध्येय था – सुयोग्य व्यक्ति को ढूँढकर उसमें देशाभिमान जाग्रत करना और शत्रु के आधिपत्य के किलों को हस्तगत कराना। इस कार्य में उन्हें शिवाजी सर्वाधिक उपयुक्त प्रतीत हुये।

शिवाजी ने एक बार समर्थ के पास जाकर उनका अनुग्रह माँगा, तो समर्थ ने उन्हें 'श्रीराम-जयराम-जयजय-राम' – यह त्रयोवर्णी मंत्र देते हुए कहा कि इस प्रभावकारी मंत्र का वे नित्य जाप करते रहें। साथ ही उन्हें एक श्रीफल और एक गठरी देते हुये कहा कि वे इसे प्रसाद के रूप में ग्रहण करें।

शिवाजी ने जीजामाता को सब सुनाया। माता ने उत्सुकतावश गठरी खोली और उन्हें उसमें थोड़ी-सी मिट्टी, कंकड़ और लीद दिखाई दी। उन्होंने व्यंग्यपूर्वक पुत्र से पूछा, "गुरुप्रसाद ऐसा होता है?" शिवाजी ने उत्तर दिया, "माताश्री, जिनका आप उपहास उड़ा रही हैं, वे निकृष्ट नहीं, बड़े काम की चीजें हैं और अलग ही संकेत देती हैं। गुरु द्वारा प्रदत्त मिट्टी जन्मभूमि का प्रतीक है। मुझे उसकी रक्षा करनी है और राज्य -विस्तार करना है। पत्थर किले के निर्माण में काम आते हैं। कंकड़ ज्यादा-से-ज्यादा किले जीतने की प्रेरणा देते हैं। लीद का सम्बन्ध घोड़े से है, जो क्षात्रवृत्ति का स्मरण कराता है कि मैं हमेशा अग्रसर होता रहूँ और कभी पीछे न देखूँ। जीजामाता जहाँ गुरु की दूर दृष्टि और चातुर्य पर नतमस्तक हुईं, वहाँ बेटे की बुद्धिमत्ता पर भी उन्हें गर्व हुआ। ❑